सहजानंद शास्त्रमाला

# नियमसार प्रवचन दशम भाग

## (निश्चय परमावश्यक अधिकार)

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

# प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'नियमसार प्रवचन दशम भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।

श्री नियमसार **आचार्य कुन्दकुन्द** द्वारा रचित आध्यात्मिक ग्रन्थ है. इस पर पूज्य वर्णीजी द्वारा अत्यन्त सरल भाषा में प्रवचन किये गये हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ में नियमसार ग्रन्थ की गाथा 141 से 158 तक के प्रवचन संकलित हैं ।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे |

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **श्री शांतिलालजी बड़जात्या,** इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

**विनीत**

विकास छाबड़ा
53, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9753414796
Email-vikasnd@gmail.com
www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी''सहजानन्द'' महाराज द्वारा रचित

## आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।
सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।

## आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजानंद॰।।१।।
हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।२।।
आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।३।।

## Table of Contents

प्रकाशकीय .....2
आत्म रमण .....3
गाथा 141 .....1
गाथा 142 .....8
गाथा 143 .....12
गाथा 144 .....15
गाथा 145 .....22
गाथा 146 .....26
गाथा 147 .....33
गाथा 148 .....37
गाथा 149 .....41
गाथा 150 .....45
गाथा 151 .....49
गाथा 152 .....53
गाथा 153 .....56
गाथा 154 .....60
गाथा 155 .....63
गाथा 156 .....67
गाथा 157 .....71
गाथा 158 .....75

# नियमसार प्रवचन दशम भाग

## गाथा 141

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स हु कम्मं भणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गोत्ति पिज्जुत्तो।।141।।

**वक्तव्य प्रतिपादन**—इस नियमसार ग्रन्थ में जिस बात का वर्णन करना था, उस समस्त वक्तव्य का वर्णन हो चुका है। जीव क्या है? जीव अजीव से न्यारा हो सकता है, क्योंकि इसमें शुद्धभाव का स्वभाव है। अब शुद्ध भाव के प्रकट करने के लिए प्रतिक्रमण, प्रायश्चित, प्रत्याख्यान और आलोचना—ये समस्त अंतरंग तप किए जाते हैं। उनके फल में परमसमाधि प्रकट होती है और अंत में यह योगी परमभक्ति को प्राप्त होता है, इसमें ही निर्वाण का सुख है। यों वक्तव्य तत्त्व प्रतिपादित हो चुका।

**अभीष्टप्राप्ति का परम उपाय**—अब उस समस्त तत्त्व के प्रतिपादन के बाद चूलिका के रूप में पुन: दो अधिकारों का विवेचन किया जायेगा। पहिले तो निश्चय पद्धति में निर्वाण की प्राप्ति का पुरुषार्थ बताया है। दूसरी बात, इस पुरुषार्थ के प्रताप से जीव की स्थिति कैसी हो जाती है? इन दो अधिकारों में से प्रथम अधिकार का नाम है निश्चय परम आवश्यक व दूसरा अधिकार है शुद्धोपयोग। यह निश्चय परमआवश्यक अधिकार है। व्यवहार में तो 6 आवश्यक कार्य योगीश्वरों के द्वारा किये जाते हैं—समता, वंदन, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग—ये 6 आवश्यक कार्य बताए गए हैं। इस अधिकार में निश्चय से परमआवश्यक काम क्या है? इन 6 कामों में आधारभूत वास्तविक काम क्या है और इन 6 के विकल्पों में भी उलझन मालूम होती है तो मेरा परमआवश्यक एक काम क्या है? उसका उत्तर इस अधिकार में दिया गया है।

**आवश्यक शब्द का भाव**—भैया !क्या पूछा जा रहा है कि आवश्यक काम क्या है? लोग कहते हैं कि अभी हमें फुरसत नहीं है, एक आवश्यक काम पड़ा है। उससे कहो कि भाई ठहरो। ...अजी, हमें बड़ा आवश्यक काम पड़ा है।....क्या? दुकान खोलना है अथवा कचहरी जाना है अथवा रसोई बनाना है, इनको लोग आवश्यक काम कहते हैं, लेकिन आवश्यक शब्द से क्या अर्थ निकलता है? वह एक पवित्र अर्थ है, किन्तु मोही जीवों ने आवश्यक शब्द की मिट्टी पलीत कर दी है। आवश्यक शब्द में मूल में दो शब्द है, अ और वश। अवश और अवश के करने योग्य काम का नाम है आवश्यक और आवश्य में क प्रत्यय लगाकर आवश्यक बन गया है। जो पुरुष अन्य के वश में नहीं है उसे अवश कहते हैं अर्थात् जो दूसरे के अधीन नहीं है उस पुरुष का नाम है अवश।

**स्ववशता का अधिकार**—अवश का उल्टा है परवश। परवश मायने जो पर के अधीन है और जो पर के अधीन नहीं है उसे कहते हैं अवश।यहाँ दूसरे से मतलब है पंचेन्द्रिय के विषय और इन विषयों के साधनभूत परिजन, सम्पदा आदिक से और इस मन का विषय है यश, प्रतिष्ठा की चाह और उसके साधनभूत ये मायाचारी असार पुरुष कुछ मेरे लिये बक दें, प्रशंसा की बातें, ये सब हैं पर-चीजें। जो इन पर-चीजों के वश नहीं है उसे अवश कहते हैं। ऐसे अवश पुरुष के करने का जो काम है उसे कहते हैं आवश्यक। लेकिन लोग अनावश्यक को आवश्यक कहने लगे। दुकान, मकान, कमाई, गप्प, पालन-पोषण, ये सब अनावश्यक काम है,

आवश्यक नहीं। जो निरन्तर अपने आत्मा के ही अधीन रहते हैं अर्थात् ज्ञानानन्दस्वभावमात्र आत्मतत्त्व को निरखकर जो इसमें ही तुष्ट रहते हैं, ऐसे पुरुषों का जो कुछ भी अंतरंग में भावात्मक पुरुषार्थ होता है उन्हें कहते हैं आवश्यक। स्ववश पुरुष कौन हो सकता है? अपने आत्मा में ही संतुष्ट रहे, आत्मा को ही निरखता रहे, अपनी आत्मा के ही नियन्त्रण में रहे, ऐसा स्ववश पुरुष कौन हो सकता है? जो उत्कृष्ट इस जिनमार्ग के अनुसार अपना आचरण बना सकते हैं वे पुरुष स्ववश बन सकते हैं।

**जिनमार्ग की शुद्धता**—यह जिनमार्ग बड़ा शुद्ध मार्ग है, जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित यह मार्ग उनके द्वारा अनुभूत किया हुआ भी है। जैसे मार्ग में चलकर किनारे पहुंचकर कोई दूसरे को मार्ग बनाये, उसका बताना सच्चा है और कोई उस रास्ते से गया ही न हो और बताता फिरे, यह है मेरा मार्ग, तो उसका बताना झूठ है। जैसे किसी नदी के एक किनारे एक मुसाफिर खड़ा है, उसे कोई ऐसा अमीर रईस पुरुष जो कि नदी पार हो गया है वह बताए कि भाई हम इस रास्ते से चलकर इस किनारे पहुंचे हैं, तुम भी सीधे इसी मार्ग से चलकर इस किनारे आ सकते हो, ऐसी बात पर लोग विश्वास करते हैं और उस मार्ग से चलकर वे नदी पार हो जाते हैं, ऐसे ही जिनेन्द्रदेव संसार से मुक्त होने के मार्ग से चले और उस मार्ग से चलकर वीतराग सर्वज्ञ हुए हैं तब वे निरीह दिव्यध्वनि के द्वारा प्रतिपादन कर रहे थे कि हे भव्यजीवों ! इस शुद्ध मार्ग से आवो तो तुम भी हमारी तरह परमात्मविलास को भोगोगे। उनका कहा हुआ मार्ग अनुभूत है, इस कारण यथार्थ है।**जिनमार्ग में परमार्थ अहिंसा की प्रधानता**—जिन-मार्ग में अहिंसा की ही सर्वत्र विशेषता है। परमार्थत: अहिंसा नाम दूसरे के प्राणों के न हरने का नहीं है। वह तो औपचारिक रूप है।अहिंसा नाम तो अपना जो ज्ञानदर्शन प्राण है उस प्राण का घात न करने का है। जब किसी दूसरे जीव के बारे में हम उसके विनाश का संकल्प करते हैं अथवा अपने काय की क्रियावों द्वारा उसका विनाश करते हैं तो वह जीव मारा गया, उसका विनाश हुआ, यह तो हिंसाभाव का बाह्य परिणाम है, किन्तु उस पर हाथ पटकें इन बातों से यहाँ हिंसा नहीं लगी, यहाँ जो इरादा बनाया, विपरीत आशय बनाया, कुसंकल्प किया, अपने चैतन्यस्वरूप से विमुख हुए, इसकी हिंसा लगी है। इस हिंसा के करने वाले प्राणी बाहर में इसी प्रकार का उपद्रव कर देते हैं, यह औपचारिक रूप है, लेकिन कैसे जाने कि इस जीव ने हिंसा की है, उसकी चेष्टा दूसरे के दिल को दुखाने की हो तो उससे ही यह अंदाज हो जाता है कि इस जीव ने अपने आपके चैतन्य परमात्मतत्त्व के प्राण का घात किया है।

**अहिंसा की मुद्रा**—वह अहिंसा कैसे निष्पन्न हो, उसका मार्ग इस जिनशासन में कहा गया है। ओह ! इस मार्ग में चलने वाले जो योगीश्वर हैं उनकी बाह्य चेष्टा भी इतनी पवित्र है कि लोग अनुमान कर सकते हैं कि अहिंसा का तत्त्व इस मार्ग से चलकर प्राप्त होता है। जो अहिंसा तत्त्व के परमसाधक हैं उन योगियों की मुद्रा नग्न, दिगम्बर केवल हाथ में पीछी और कमण्डल होता है, उनके पास न लाठी है, न शस्त्र है, न त्रिशूल है। यदि वे सब चीजें हों तो लोग यह भय खा सकते हैं कि कभी महाराज को गुस्सा न आ जाय तो त्रिशूल भोंक दें अथवा लाठी मार दें। जब तक जीव के साथ कषाय है तब तक उसका विश्वास क्या? अभय का स्वरूप है वह। किसी पुरुष को भय नहीं रह सकता। कैसी है वह मुद्रा कि निर्विकार स्वरूप है।उस नग्न पुरुष के कभी विकार होगा तो तुरन्त प्रकट हो जायेगा। लोग देख रहे हैं कि कैसी शान्त मुद्रा और अविकार मुद्रा में हैं, जिन्हें किसी प्रकार का आरम्भ नहीं करना है और इसीलिए न उनके पास झोंपड़ी है, न खेती है, न तक्की-गद्दा है, मात्र शरीर उनका परिग्रह है।

**पीछी का प्रयोजन**-पिछी आवश्यक है जीवदया के लिए। कोई जीव-जन्तु शरीर पर आ जाय उसे हाथ से न हटाकर पीछी से हटाते हैं। हाथ कड़ा होता है, मक्खी, मच्छर को हाथ से हटावो तो उसे क्लेश होगा, ये मोर पक्षी जंगलों में अपने पंख छोड़ देते हैं जिनमें कोई वैज्ञानिक खोज करे तो कोई धातु का तत्त्व उससे निकल सकता है जिसमें ऐसी प्रकृति है कि कीड़े भी नहीं पड़ते, पसीना भी नहीं लगता, ऐसी कोमल पीछी से उन जीवों को हटाते हैं अथवा बैठें, सोयें तो स्थान को साफ करने में उपयोग करते हैं।

**अनन्यवशता के अधिकारी**—देखो भैया ! शान्त, अविकार, दयास्वरूप जिनकी बाह्य मुद्रा है वे भीतर में क्या करते रहते होंगे? वहाँ अहिंसा का अनुमान होता है। खैर, द्रव्यलिंगी मुनि भी बाह्य में इतना आचरण कर लेते हैं इसलिए वह यथार्थ अनुमान नहीं है, लेकिन जिनको भीतर में अहिंसा तत्त्व का महान् आदर जगा है उनकी बाह्य मुद्रा ऐसी होती ही है। जो जीव जिन-मार्ग के आचरण में कुशल हैं वे ही पुरुष अनन्यवश हो सकते हैं अर्थात् अवश हो सकते हैं क्योंकि सदा ही वे अपने अंत:स्वरूप की ओरझुके रहते हैं। सदैव अन्तर्मुखरूप होने के कारण वे पुरुष अनन्यवश हुआ करते हैं अर्थात् साक्षात् स्ववश हैं।

**स्नेह की हितबाधकता**—दूसरे जीवों में स्नेह करना नियम से दु:ख का कारण होता है। इसमें दूसरी बात की गुञाइश नहीं है, व्यर्थ का स्नेह है। कोई स्नेह करे और जिस दूसरे से स्नेह किया जा रहा है वह अपनी कषायों के अधीन होकर अपने मन की वृत्ति करे, क्या पड़ी है परजीवों से अन्तरंग से स्नेह किया जाय? क्यों अपने आत्मा को दूसरों के साथ खोया जा रहा है, क्यों अपनी गरदन क्रूर पुरुषों के सामने रक्खी जा रही है? जो विवेकी पुरुष हैं, निकट भव्य हैं वे अपनी आत्मा की संभाल रखते हैं, वे पर के वश नहीं होते हैं;जो ऐसे स्ववश पुरुष हैं उन पुरुषों के ही यह व्यवहार होता है, जिस व्यवहार में ज्ञानी और अज्ञानी सभी लोग धर्मबुद्धि को करते हैं, किन्तु अंतरंग में जो निश्चय पुरुषार्थ है उसे अज्ञानी नहीं कर सकते, उसका अधिकारी ज्ञानी पुरुष ही है।

**व्यवहारप्रपञ्चविमुखता**—जो व्यवहार क्रियाओं के प्रपञ्चों से विमुख है उसके ही यह परमआवश्यक होता है। योगीजन प्रभु की वंदना भी कर रहे हैं, सिर झुका रहे हैं, हाथ जोड़ रहे हैं, ऐसा करते हुए भी वे जानते हैं कि यह भी मैं अज्ञानमय चेष्टा कर रहा हूँ,प्रभु की वंदना और उसके लिए अपने शरीर से इतना बड़ा प्रयत्न और इस चेष्टा को भी वे यों देख रहे हैं कि यह अज्ञानमय चेष्टा हो रही है। ज्ञानभावमय ज्ञानमयी चेष्टा तो केवल ज्ञानप्रकाश के अनुभव की होती है, यह शरीर की चेष्टा और ऐसे अनुराग के विकल्प यह सब अज्ञानमयी चेष्टा है।फिर करते क्यों हैं, यह प्रश्न हो सकता है। अज्ञानमयी चेष्टावों को दूर करने के लिए ही यह अज्ञानमयी चेष्टा किसी पद तक की जाती है।

**दृष्टि का फल**—भैया ! फल दृष्टि का मिलता है, क्रियाओं का फल नहीं मिलता है। कोई पुरुष अनमना होकर आपका काम करे तो आप यह कहेंगे कि इसने कुछ नहीं किया। मन लगाकर करता तो आप उसे करने का काम लेते। मन तो था नहीं, अनमना बनकर जबरदस्ती किया, उससे आप राजी नहीं होते हैं और यह कहते हैं कि कुछ किया ही नहीं है। ऐसे ही ये योगीपुरुष अनमने होकर शरीर की वेदनादिक चेष्टाएँ करते हैं, इस कारण वे करते हुए भी नहीं करने वाले हैं। जहाँ उनकी दृष्टि है, जहाँ उनका मन लगा हुआ है करने वाले तो उस तत्त्व के हैं।

**अनमना व निजमना**—अनमना किसे कहते हैं? आप लोग जानते होंगे, किसका नाम अनमना है? ये भाई अनमने हो गये, इसके मायने क्या है? व्यवहारी लोग तो यह अर्थ करते हैं कि ये खेदखिन्न हो गये हैं, परन्तु

अनमने का अर्थ खेदखिन्न नहीं होता, किन्तु अन्यमना: मायने अन्य तत्त्व में मन लग गया है, जिसका अन्य तत्त्व में मन लग जाय उसे अनमना कहते हैं। जिस पुरुष का मन अपने आत्मस्वरूप को छोड़कर अन्य तत्त्व में, परभाव में लग जाय, वह पुरुष अनमना है, यहाँ स्वमना बिरला ही कोई संत पुरुष मिलेगा।सबके सब मनुष्य एक छोर से लेकर अंत तक देखते जावो प्राय: सब अनमने मिलेंगे। जो अनमना बनेगा वह दु:खी होगा यह प्राकृतिक बात है। सुखी होना है तो अनमना मत बनो, निजमना बनो। अनमना बनने से आकुलता ही होगी। जो निजमना बने उसके सर्वसंकट दूर हो जायेंगे। यह अवश पुरुष निजमना बन रहा है, इस कारण वह संकटों से छूटने का उपाय पा लेगा।

**परमावश्यक का माहात्म्य**—जो व्यवहारिक क्रियाओं के प्रपंचों से दूर हैं उन पुरुषों के ही ये परमावश्यक कर्म होते हैं। यह निश्चयदृष्टि से परमावश्यक कर्म की व्याख्या है। इस निश्चय परमावश्यक के बिना कोई पुरुष आकुलता से दूर नहीं हो सकता है। इसके उपयोग में अपने आत्मा की श्रद्धा है। यहाँ निश्चय धर्मध्यान चल रहा है। यह उपयोग अपने आपके आत्मा से जुड़कर, मिलकर ज्ञानात्मक पुरुषार्थ कर रहा है, इस ही परमावश्यक में यह सामर्थ्य है कि इन कर्मों को दूर कर दे।

**कर्मसंकटविध्वंस का उद्यम**—भैया ! प्रभु से भीख मांगते रहने से कर्म दूर न होंगे। हे प्रभु ! मेरे अष्टकर्म ध्वस्त कर दो। देखो मैं मैसूर की बनी धूप चढ़ा रहा हूँ,अब तो प्रसन्न होकर मेरे भव-भव के कर्म दूर कर दो। यह तो सब आपका व्यावहारिक आलम्बन है। इस सहज शुद्ध निश्चयस्वरूप का आप आलम्बन लें तो समस्त कर्म दूर हो जायेंगे। घर-बार, कुटुम्ब की सम्पदा की ममता तो छोड़ते नहीं बनती और कर्मों के विध्वंस करने का कोई ढोंग करे तो वहाँ कर्म विध्वंस न होंगे। अहंकार और ममकार को त्यागकर किसी भी क्षण अपने इस स्वाधीन सहजस्वरूप का आश्रय बने तो ये कर्म दूर हो सकेंगे।ऐसा इस ज्ञानीपुरुष के निश्चयपरमावश्यककर्म होता है, ऐसा उन परम जिनयोगीश्वरों ने कहा है और इस ही स्वात्ममग्नता का रूप परम तपश्चरण मेंनिरत रह सकता है, इस ही निश्चय परमआवश्यक तत्त्व का वर्णन इस अधिकार में किया जायेगा।

**निश्चय परमावश्यक कार्य**-करने योग्य आवश्यक कामों में निश्चय से केवल एक ही पुरुषार्थ है, वह है मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति द्वारा निष्पन्न होने वाला जो परमसमाधिरूप योग है वह। जहाँ मन चंचल है, यहां-वहाँ भटकता है वहाँ योग की सम्भावना नहीं है, प्रत्युत वह विकल्पबाहुल्य प्राणी है, उसमें सर्वत्र बन्धन ही बन्धन है। मन को वश करना मुमुक्षु का प्रधान कर्तव्य है। इस मन को किस ओरलगाया जा रहा है? इसका निर्णय रक्खो और लगाने का उत्साह जगावो। इस जगत के अनन्त प्राणियों में से अचानक अटपट जो कोई प्राणी आपके घर में आ गये हैं, बस गये हैं, वे खुद कर्मों के प्रेरे हैं, विषयकषायों के अभिप्रायों से परिपूर्ण, इस अपावन, दुर्गन्धित, जीर्ण शरीर में बँधे हुए एक असहाय भिन्न प्राणी हैं। उनमें स्नेह करने से क्या लाभ पावेंगे? अपना भला तब है जब अपने सहज स्वरूप का निर्णय करके अपनी ओरझुकाव करें। तब दूसरों से मोह करने से न अपने को लाभ है और न जिनमें मोह किया जा रहा है उनको लाभ है।

**अन्त:आश्रय में लाभ**—धर्म धर्मविधि से करें तो लाभ देता है। हम रूढ़िवश अपनी चर्यावों का पालन तो करें और उसका मर्म न ग्रहण कर सकें, निर्मोहता, निरहंकारता अपने न बना सकें तो धर्म का लाभ तो नहीं मिला। वह तो एक स्वार्थमयी कल्पना है। कोई चार मूर्ख पंडित भेष बनाकर अपनी उदरपूर्ति के लिये निकले। हम बड़े पंडित हैं, ऐसा जाप करते हैं कि रोग सब दूर कर देंगे तो एक सेठ ने उन्हें रख लिया, हमारे धन बढे, समृद्धि हो इसका आप जाप कर दीजिये।....अच्छी बात। जाप क्या करें,कि एक को थोड़ासा

मालूम था, सो कहता है कि ॐ विसनुं विसनुं स्वाहा तो दूसरा कहता है कि तुम जपा सो हम जपा स्वाहा। तीसरा कहता है कि ऐसा कब तक चलेगा स्वाहा। चौथा कहता है कि जब तक चले जब तक सही स्वाहा। तो केवल शब्दों के रटने मात्र से आत्मा में प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु यह ज्ञान अपनी ओरलक्ष्य बनाकर प्रगति करे तो प्रभाव होता है।

**स्वयं पर स्वयं के परिणमन का प्रभाव**—दुनिया में प्रभाव किसी दूसरे का दूसरे पर नहीं पड़ा करता है। खुद का ही प्रभाव खुद पर पड़ता है। किसी देहाती आदमी को न्यायाधीश के पास कचहरी में जाना पड़े तो उसके हाथ-पैर ढीले हो जाते हैं तो क्या जज का प्रभाव उस देहाती पर पड़ा? नहीं। उस देहाती का जो अज्ञान है, कल्पना है, कायरता है, नासमझी है उससे उसने अपने में स्वयं भय पैदा किया और खुद डर करके अपनी विडम्बना बनायी। वह देहाती जज से नहीं डरता है, अपनी ही गल्ती से अपने आपमें डरता है। दूसरे का तो डर है ही नहीं। वह मुझ पर क्या प्रभाव बनायेगा? यह जीव खुद ही अपनी कल्पना बनाकर अपने आप पर प्रभाव जमाता है।यहाँ मन्दिर में हम आप दर्शन करने आते हैं, हम आप पर न भगवान प्रभाव डालते हैं और न यह मूर्ति प्रभाव डालती है,हम आप स्वयं ही धर्म में लगने वाले हैं और ज्ञानमयी अपनी दृष्टि सजग बनाते हैं तो आपका खुद का अपना प्रभाव आप पर पड़ता है। यह प्रभाव जिस स्थान में जिसके समक्ष उत्पन्न हुआ, उसका आप आदरपूर्वक सम्मान करके बोलते हैं कि सब भगवान का प्रताप है। भगवान का तो प्रताप है, किन्तु यह परक्षेत्र में स्थित भगवान का प्रताप नहीं है, किन्तु हम आपमें अंत:विराजमान् भगवान का प्रताप है।

**प्रभुपरिचय की आवश्यकता**—अहो ! यह प्राणी अपनी समझ न होने पर दर-दर भीख मांगता और भटकता फिरता है। अरे किसी भी प्रकार निजप्रभु को पहिचानो। साधुजनों के लिये बताया है कि उनका आत्मा स्वयं अपने आत्मतत्त्व के दर्शन में निरत रहा करता है। उन्हें मूर्तिमुद्रा के आलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती है, मिल जाय सुगम तो वे उसका उल्लंघन नहीं करते, किन्तु गृहस्थजनों को मूर्ति का आश्रय करना कर्तव्य बताया है, यह भेद किस बात का है? यह अपने आपमें विराजमान् भगवान की प्रसन्नता जिसको अधिकरूप से हुई है वह तो है साधु और जिसके भगवान की प्रसन्नता अधिकरूप में नहीं हुई है, वह है श्रावक और इस ही भेद पर एक को आश्रय बताया है और एक को निराश्रय बताया है।

**वचनगुप्ति बिना भी समाधियोग का अभाव**—जिसका मन चंचल है उसके तो यह परमसमाधि का योग हो ही नहीं सकता। वचनयोग भी जिसका चंचल रहता है, अधिक बोलना, बिना विचारे बोलना, बिना संभाले बोलना, अपने आपको सबसे महान् समझकर बोलना,यह सब वचनों का दुरुपयोग है। जिसे समता का आनन्द चाहिए उसको वचनों का निरोध करना होगा। इस वचनगुप्ति के प्रसाद से अपने आपमें एक बल प्रकट होता है जो खोटी बातें, बेकार के गल्पवाद, चर्चाएँ कर रहे हैं उन्हें उसके फल में ज्ञान प्रकट नहीं होता है। अरे ! वह आत्मा निर्बल होता हुआ योग से दूर तो रहता ही है, पर चतुर्गतिरूप संसार का भटकना भी बना रहता है। हमारा कर्तव्य है कि हम वचनों को संभाल कर बोलें। जब वचन क्रोध की स्थिति में बोले जाते हैं तो मुँह तन जाता है और उस समय मुँह का आकार ऐसा बन जाता है कि जैसे मानो तना हुआ धनुष हो। जैसे धनुष की डंडी टेढ़ी होती है और उस पर डोर बँधी रहती है, सो तनने पर यह डोर भी टेढ़ी हो जाती है, ऐसे ही ये ऊपर नीचे के ओंठ भी धनुष जैसे टेढ़े हो जाते हैं और उनमें से जो वचन निकलते हैं वे भी इतने कठोर और तेज निकलते हैं कि मानो धनुष से बाण निकलते हों। ये वचन-बाण जिसके लग जाते हैं उसके घाव की दवा किसी के हाथ नहीं है।

**वचनगुप्ति के यत्न की आवश्यकता**—यही जीभ अच्छे वचनों के उपयोग में भी आ सकती है जिससे लाभ है। सब प्रकार से शान्ति मिले, मित्रता बढे, धन की प्राप्ति हो, वातावरण सुख का रहे, मधुर वचन बोलने में सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। कठोर निन्दा भरे, अहंकार भरे वचन बोलने से एक भी लाभ नहीं होता, सो सोच लीजिये। खुद की बरबादी, वातावरण को विषैला बनाना, जनता की निगाह में नीचा बन जाना और कष्ट आए तो किसी का अनुग्रह भी न मिलना, अनेक वहाँ क्लेश हैं। उत्तम तो यह है कि हित,मित,वचन बोलें;खोटे वचनों का परिहार करें और उससे भी उत्तम यह है कि सर्व प्रकार के वचनों का निरोध करें और निज सहजस्वरूप में ही अपना उपयोग बनाएँ तो ऐसी वचनगुप्ति से परमसमाधिभाव प्रकट होता है। वही परमयोग है और वही परमावश्यक काम है।

**आत्मोत्थान में कायगुप्ति का सहयोग**—शरीरों का भी यथातथा प्रवर्ताना और पापमयी कार्यों में लगाने योग्य आचरण करना, ये सब संसार में ही रुलाने के कारण हैं। पापों से किसी का भी लाभ नहीं होता। जो मनुष्य पाप करके कदाचित् धन भी कमा लें तो वह धन की कमायी पाप करने से नहीं हुई, किन्तु पूर्वकाल में पुण्य विशेष किया था जिसके कारण इससे भी अधिक लाभ होना था, किन्तु पाप करके उस लाभ को हीन कर दिया गया है।थोड़ा ही लाभ हो पाया है, यह है उसकी स्थिति, किन्तु पापी, मोही प्राणियों में यह सुबुद्धि कहां जग सकती है? पापमय आचरण से आत्मा का कुछ उद्धार नहीं होता है, न पापवृत्ति से इस भव में कोई आनन्द प्राप्त होगा और न परभव में ही कोई आनन्द प्राप्त हो सकेगा। यह परमसमतारूप जो परमयोग है, कायगुप्ति से उत्पन्न होने वाला जो यह आत्मसहयोग हे उसमें सामर्थ्य है कि समस्त कर्मों का विनाश कर दे। यही परमयोग, परमपुरुषार्थ निश्चयपरमावश्यक साक्षात् मोक्ष का कारण है, इसी कारण यह निवृत्ति का मार्ग कहा जाता है। निवृत्ति मायने निर्वाण अर्थात् समस्त विकल्पजालों का बुझ जाना। जहाँ सर्वप्रकार के विकल्पों से हटकर निर्विकल्प अवस्था रह जाय, ऐसी दशा की प्राप्ति का उपाय यह निश्चय परमावश्यक है।

**आत्मा की धर्मस्वरूपता**—अहो !यह आत्मा तो स्वयं ही धर्मस्वरूप विराजा है। इसमें जो अधर्म आ गया है उसको हटा दीजिए। यह तो धर्मरूप स्वयं ही पहिले से है। जैसे जितने मनुष्य उत्पन्न होते हैं वे एक ढंग से उत्पन्न होते हैं, एक समान हाथ-पैर होते हैं, वहाँ किसी प्रकार का भेद नहीं है कि यह इसाई है, यह मुसलिम है, यह सिक्ख है, यह बौद्ध है, यह जैन है। उत्पत्ति तो सबकी एक सी होती है, एक-सा ही सबके शरीर का ढांचा है। कुछ बड़ा होने पर कोई दाढ़ीबढ़ा ले, यह अलग बात है, कोई सिर के बाल रखाकर, कोई मूँछों की कुछ चाल बनाकर एक सम्प्रदाय का रूप दे दे तो ये तो सब बनावटी बातें हैं, किन्तु स्वयं अपने आप तो सब एक ही तरह से पैदा होते हैं, एक प्रकार का शरीर है, भेद नहीं है। ऐसे ही आत्मा का जो धर्म है, स्वभाव है उसमें भेद नहीं है, वह तो सब जीवों में एक समान है। बस इस धर्म में जो अधर्म घुस गये हैं, मैं अमुक जाति का हूँ,अमुक कुल का हूँ,अमुक मजहब का हूँ आदिक अनेक प्रकार की जो कल्पनाएँ लग गयी हैं इन अधर्मों को निकाल देने पर तो स्वयं धर्मस्वरूप है। फिर जो इस आत्मा में सहजप्रकाश मिले, अनुभव में आये, उसकी दृष्टि बनाएँ, वही शुद्धोपयोग है।

**अशुद्धता के परिहार में शुद्धस्वरूप की उपलब्धि**—इस शुद्धोपयोग को पाकर ज्ञानी-संत पुरुष इस ज्ञानतत्त्व में अपने को मग्न कर लेते हैं जो नित्य आनन्द के प्रसाद से भरा हुआ है। धर्ममय तो स्वयं आत्मा है। धर्म से जीव को आनन्द ही मिलता है। धर्म से विडम्बना नहीं होती है, किन्तु धर्म में जो अधर्म पड़ा हुआ है, ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व में जो विषयकषायों का विकल्प समाया हुआ है, उससे आकुलता होती है। मूल में, स्वरूप में तो यह आत्मधर्म ज्यों का त्यों ही है। स्वर्ण को शुद्ध कोई नहीं बनाता। अरे ! स्वर्ण तो स्वयं

अपने स्वरूप में शुद्ध ही है, उसे कौन शुद्ध बनायेगा। स्वर्ण की डली से बने हुए गहने में जो अशुद्धता मिली है ताव लगाकर, योग लगाकर उस अशुद्धता को निकाल दिया तो जो था, वही का वही रह गया है। इसको ही लोग कहते हैं कि इस सुनार ने इस सोने को शुद्ध बना दिया है। कहां शुद्ध बनाया है? वह तो जो था सो ही है।

**मार्मिक अर्थ में मर्म का परिचय**—एक मास्टर साहब बच्चों को पढ़ा रहे थे। बच्चों को डांटतेडपटते हुए कह दिया कि हमने बीसों गधों को मनुष्य बना दिया है। एक कुम्हार इस बात को सुन रहा था। सोचा कि हमारे कोई बच्चा नहीं है, सो एक गधे का एक बच्चा इन मास्टर साहब से बनवा लें, सो मास्टर से कहा कि मास्टर साहब हमारे ऊपर भी कृपा कीजिए, कोई हमारे बच्चा नहीं है, सो आपको मैं एक गधा दूँगा, बच्चा बना देना। मास्टर ने सोचा कि आज अच्छा कोई टट्टू मिला। कहा—अच्छा भाई ले आवो गधा, हम गधे से मनुष्य का बच्चा बना देंगे। ले आया वह कुम्हार गधा। मास्टर साहब ने कहा, देखो 7 दिन के बाद 8वें दिन ठीक 12 बजे आ जाना, तुमको बना बनाया बच्चा मिल जायेगा। मास्टर तो जानता था कि यह देहाती आदमी है या तो एक आध घंटा पहिले आयेगा या बाद में, सो गलत टाइम पर आने से कुछ कहकर टाल दिया जायेगा। मास्टर ने उस गधे को 20, 25 रुपये में बेचकर अपना काम चलाया। अब आया वह 8वें दिल तीन बजे। मास्टर साहब से अपना बच्चा मांगा तो मास्टर साहब ने कहा कि तू तो देर करके आया है, तेरा बच्चा बनकर पढ़-लिखकर होशियार होकर न्यायालय में पहुंचकर न्याय कर रहा है, वह जज बन गया है, अब तो हमारे वश की बात रही नहीं कि उसे ला सकें, तू ला सकता हो तो ले आ, तो वह गधे का तूमरा लेकर जिसमें कि वह गधा दाना खाया करता था, पहुंचा न्यायालय के द्वार पर। जज दिख रहा था। कुम्हार कहता है—ओह, ओह आजा, अरे !तीन घंटे में ही तू हमसे नाराज हो गया है। सब लोग देखकर विस्मय में पड़े। चपरासी ने उसके कान पकड़कर वहाँ से भगा दिया। तो शब्द का मर्म समझना चाहिये। बीसों गधों को मनुष्य बनाया, इसका अर्थ यह नहीं है कि चार पैर वाले गधा जानवरों को मनुष्य बनाया, किन्तु उसका सीधा अर्थ यह है कि बीसों मूर्ख बच्चों को योग्य बनाया। यों ही हमारी समस्त क्रियावों में ऐसा सीधा ही अर्थ नहीं ले लेना है कि ऐसे हाथ करके चढ़ावो तो मोक्ष मिलेगा। अरे ! यह तो आलम्बन है। अपने आत्मा को शुद्ध ज्ञानपुञ्ज पर जमावो तो निर्वाण मिलेगा, यह उसका अर्थ है।

**संकटहरण यत्न**-यह आत्मा स्वयं धर्मस्वरूप है, नित्य ही इसमें आनन्द का प्रसार हुआ करता है। इस रसीले ज्ञानस्वरूप में अपने को लीन करके अविचल ढंग से निष्कम्प प्रकाश वाली जो सहज अपनी ज्ञानलक्ष्मी है उसको यह प्राप्त कर लेता है। यह सब एक अपने आपके स्वरूप का निर्णय और अपने आपकी ओरझुकाव का फल है। कैसी भी कठिन विपदा आयी हो घबरायें नहीं, वह तो पर का परिणमन है, उससे अपना कुछ सम्बंध नहीं है। अपने आपको ज्ञानानन्दस्वरूप निरख करके अपने आपकी ओरझुक जावो, सब विपदा दूर हो जायेगी। विपदा क्या है? एक खोटी कल्पना बना ली है, उन खोटी कल्पनावों को त्याग दें। कुछ समय इस निर्विकल्प ज्ञानप्रकाश की ओर अपना उपयोग लगावें तो सब आपत्तियां दूर हो जायेंगी। महापुरुष स्वाश्रय में होते हैं, अपने आपके आत्मस्वरूप का आलम्बन लेते हैं, उस स्वाश्रितता के प्रताप से उत्पन्न हुआ यह आवश्यक कर्म है, यही तो साक्षात् धर्म है। यह धर्म इस धर्मस्वरूप सत्चित् आनन्दमय, परमब्रह्म में अतिशयरूप से प्रकट होता है। इस आत्मधर्म को प्रकट करने में जो कुशल है, जो तत्त्वज्ञान के बल से बलिष्ट है, ऐसा पुरुष इस धर्म का आश्रय करके निर्वाण को प्राप्त कर लेता है अर्थात् समस्त संकटों से दूर हो जाता है।

**आकिञ्चन्य स्वरूप के प्रत्यय में समृद्धि**-देखो ! यह धर्म अपने को आकिञ्चन्यस्वरूप देखने में है। तेरा इस जगत में कुछ नहीं है, जो मेरा कुछ नहीं है इस जगत में, ऐसा मान कर रहे, उसको सर्वातिशयरूप रूप से सिद्धि प्राप्त हो जाती है। देखो ! भोजन करने में भी न न करें आप, तो परोसने वाले प्रेमपूर्वक खूब परोसते हैं और आप मांगकर खायें, लावो-लावो कहें तो परोसने वाले का दिल नहीं रहता है। जब भोजन में भी न न के फल में अच्छा परोसन मिलता है। तो ऐसी ही सब समागमों की बात है। इस धन-सम्पदा में आप अंतरंग से न न करेंगे और अपने आकिञ्चन्यस्वरूप को निरखेंगे तो सदा ही आपको बड़ीबड़ी समृद्धियां प्राप्त होंगी, अंत में निर्वाण हो जायेगा तो वहाँ भी अनन्तचतुष्टय सम्पन्न बने रहेंगे। अपने आपको आकिञ्चन्य निरखियें और ज्ञानस्वरूप निज अंतस्तत्त्व में उपयोग को झुकाने का यत्न कीजिए,यही वास्तविक आवश्यक काम है।

## गाथा 142

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोधव्वा।
जुत्तित्ति उवाअंतिय णिरवयवो होदि णिज्जेत्ति।।142।।

**आवश्यक निर्युक्ति**—जो वश में न हो उसका नाम है अवश। जो पुरुष एक अपने आत्मतत्त्व के सिवाय अन्य किसी परपदार्थ के वश नहीं रहते हैं, किसी भी कल्पना, परभाव के अधीन नहीं रहते हैं उनपुरुषों को अवश कहते हैं और अवश का जो कर्म है, कर्तव्य है, पुरुषार्थ है उसको आवश्यक कहते हैं। यह तो हुआ आवश्यक का कार्य। अब इस शब्द के साथ निर्युक्ति भी जुडा रहता है, पूरा नाम है आवश्यक निर्युक्ति। इसमें निर्युक्ति शब्द का अर्थ है निरवयवस्य युक्ति: इति निर्युक्ति:। जिसमें अवयव नहीं रहते हैं वह है मोक्ष। उस मोक्ष का जो उपाय है उसे कहते हैं निर्युक्ति। युक्ति नाम उपाय का है अथवा आवश्यकरूप निर्युक्ति नि:शेष उपायों में सम्पूर्ण उपाय अर्थात् मोक्षप्राप्ति का एकमात्र उपाय है, किसी भी अन्य तत्त्व के परभाव के वश में न होना और अपने सहज आनन्दस्वरूप का दर्शन करते हुए प्रसन्न रहना, यही है मोक्ष का उपाय।

**वास्तविक वीरता**—भैया !जो अवश होता है वह परम जिनयोगीश्वर है।दुनिया जिसमें वीरता समझती है वह है कायरता और जो वास्तविक वीरता है उसमें यह दुनिया है कायर। भोग भोगना आसान काम है और भोग तजना शूरता का काम है, लेकिन जगत के लोग उसे बहादुर जानते हैं, जो बहुत महल खड़े करा दे, भोगों के बड़े साधन जुटा दे। पर भोगों के साधन जुटा लेना,इस दुनिया में अपनी नामवरीप्रतिष्ठा का फैलाव बना लेना, कुछ मनोहारी भाषणों और करतूतों के द्वारा जनता में अपना रौब बैठाल लेना, पंचेन्द्रिय के विषय-साधनों का संचय कर लेना, यह बहादुरी नहीं है। बहादुरी तो समस्त परतत्त्वों की, परभावों की उपेक्षा करके जो आत्मीय ज्ञानानन्दस्वरूप है उस स्वरूप में मग्न रहना, यही है बहादुरी का काम।

**सुगम स्वाधीन आवश्यक कार्य**—अथवा आत्मा की उपासना का है तो अत्यन्त सुगम काम, किन्तु अज्ञानी जनों से किया नहीं जा सकता। उनकी अपेक्षा से यह बहादुर का काम है। प्रेमी पुरुषों को परिजनों के वातावरण में रहकर तो न जाने कितना समय व्यर्थ गुजर गया है? उन्हें मोह का वातावरण तो आसान लगता है, कोई बच्चा प्रतिकूल हो गया, कोई झंझट आ गयी तो उन झंझटों को संभालने का भी काम उन्हें आसान लगता है, किन्तु पूजा में, स्वाध्याय में, सत्संग में धर्म की किसी भी साधना में वे कभी जायें तो उनको समय गुजारना कठिन लगता है,बार-बार घड़ी देखते हैं कि अरे !कितना समय हो गया है। उन्हें सब मोह का

वातावरण आसान लगता है तो कठिन तो काम हुआ आत्मसाधना का, किन्तु जो आत्मसाधना में कुशल हैं उन पुरुषों के लिए बच्चे खिलाना, पालना, अनेक प्रतिकूल बोझों का सहना, यह कठिन मालूम होता है। जो पुरुष किसी परतत्त्व के वश में न हो, केवल आत्मीय चैतन्यस्वरूप की दृष्टि के वश में है उस योगी पुरुष के यह परमावश्यक कर्म अवश्य ही होता है। यह बात इस गाथा में बतायी गयी है।

**आत्मयोग**—योगी नाम उसका है जो योग करे, जोड़ करे।जो वस्तु पृथक्-पृथक् हैं, लाखों उपाय किए जायें उनका उसमें जोड़ नहीं पहुंचता है। जो वस्तु एक है, किन्तु कल्पना-भेद उस धर्म धर्मी को जोड़ नहीं रहा है, ज्ञानप्रकाश होने पर उस वस्तु में जोड़ हो सकता है। जो पृथक्-पृथक् वस्तु है उसमें कोई भी जोड़ नहीं हो सकता है। यह आत्मा और इस आत्मा का यह उपयोग यह कोई जुदा पदार्थ नहीं है, एक ही वस्तु है, धर्मों का भेद है। उपयोग धर्म है आत्मा धर्मी है,केवल समझने के लिये भेद किया गया है। जिसमें ज्ञान होता है उसे आत्मा कहते हैं, यह समझाने के लिये कहा जाता है। कहीं ऐसा नहीं है कि आत्मा कोई चीज है अलग और उसमें ज्ञान भरा रहता है और जिसमें ज्ञान भरा हो उसे आत्मा कहते हैं, ऐसी बात नहीं है। वह आत्मा ही स्वयं सर्व ओरसे ज्ञानरसघन है। एक ही चीज है।

**विचित्र योग और वियोग**—किसी भ्रम से यह मेरा ज्ञान उपयोग इस धर्मी आत्मा से बिछुड़ा हुआ है।बिछुड़ करके भी लगा हुआ है इस आत्मा से ही। इस आत्मा से ज्ञान का बिछोह बड़ा विचित्र बिछोह है। बिछोह भी है और बिछोह भी नहीं है। जो ज्ञान आत्मा को छोड़कर किसी परवस्तु में लगता है वह ज्ञान क्या आत्मा का आधार छोड़कर परपदार्थों में लगेगा? नहीं लगेगा। परपदार्थों की ओरदृष्टि रहकर भी वह ज्ञान आत्मा के आधार में ही बहिर्मुख होकर रह रहा है, इस कारण ज्ञानी आत्मा को बिछोह नहीं होता, लेकिन जो ज्ञान आत्मा की खबर भी न ले, उसे तो पूरा बिछोह कहा जायेगा। जैसे घर में रहते हुए लोग घर में ही रहेंगे, झगड़ा भी हो गया तो घर में ही लड़ेझगड़ेंगे। घर में रहते हुए भी वे एक घर में रह नहीं रहे हैं।झगड़ा मच रहा है, किसी का किसी से मन नहीं मिला। उन्हें एक जगह रहने वाला नहीं कहा जाता है। यद्यपि एक ही घर में रह रहे हैं, दूसरी-दूसरी जगह नहीं रह रहे हैं, किन्तु मन न मिले तो उसे कहते हैं कि एक जगह नहीं रह रहे हैं। यह तो एक लौकिक दृष्टान्त है। प्रकरण में यह जानना चाहिए कि यह उपयोग आत्मा का ही एक अभिन्न धर्म है, भिन्न नहीं है, आत्मा का ही स्वरूप है, लेकिन जो ज्ञान अपने आधारभूत मौलिक धर्मों का ख्याल ही न रखे, केवल बाह्य पदार्थों का ही ध्यान है तो समझना चाहिये कि यह ज्ञान आत्मा से बिछुड़ गया है। बिछुड़कर किसी दूसरी जगह नहीं पहुंचा, लेकिन जब माना ही नहीं है अपने आधार को तो वह बिछुड़ा ही है। ऐसा बिछुड़ा हुआ यह उपयोग आत्मा में जुड़ जाय, इसका आत्मा में योग हो जाय, इसे कहते हैं परमयोग।

**आवश्यक शब्द का वास्तविक मर्म और विकृत अर्थ रूढ़ होने का कारण**—ये योगीजन जिन्होंने आत्मा से योग बनाया है उन्हें कहते हैं योगी। जो भली प्रकार योगी बने हैं उन्हें कहते हैं योगीश्वर। जो योगी अपने आत्मग्रहण के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव का,किसी भी पदार्थ का अधीनत्व स्वीकार नहीं करता है उस पुरुष को अवश कहते हैं और उस अवश परमयोगीश्वरों के जो काम हो रहा हो उस काम को आवश्यक कहते हैं। उस योगी का क्या काम चल रहा है? एक आत्मा का दर्शन, आत्मा का ज्ञान और आत्मा का ही आचरणरूप शुद्ध चिद्विलासरूप पुरुषार्थ चल रहा है,यही है परमावश्यक। आवश्यक नाम परिणति का है अर्थात् मुझे आवश्यक काम पड़ा है, ऐसा कोई कहे तो उसका अर्थ यह लगाना कि मुझे मोक्ष के उपाय का काम पड़ा हुआ है, यह है सही-सही अर्थ। अब कोई आवश्यक शब्द को विषय-साधनों की ओरही लगा दे तो

इसके लिए क्या किया जाय? जैसे कुबेर शब्द बड़ा उत्तम है, जो पुरुष उदार है, दान करता रहता है, ऐसे पुरुष को लोग कुबेर की उपमा देते हैं और कोई कंजूस धनी हो जिसकी कंजूसी नगर भर को विदित है और उससे कोई कहे आइए कुबेर साहब तो वह तो शर्म के मारे गड़ जायेगा और अपने को गाली मानेगा, मुझसे ये लोग मजाक करते हैं। अरे ! शब्द तो उत्तम बोला,पर अयोग्य पुरुष के लिए। आवश्यक कहो या मोक्ष मार्ग कहो दोनों का एक अर्थ है, लेकिन इस मोही प्राणी ने अपने खाने-पीने, विषय भोगों की बातों में आवश्यक शब्द जोड़ दिया है और इससे यह आवश्यक शब्द मोही-जगत में अपनीअंतिम सांसे ले रहा है। अब इस शब्दों में जान नहीं रही।

**आवश्यकनिर्युक्ति का फल निरवयवता की सिद्धि**—आवश्यक नाम है मोक्षमार्ग का। निश्चय धर्मध्यानरूप, आत्मानुभवरूप जो योग का अंतरंग में पुरुषार्थ है उस पुरुषार्थ का विलास यह तो हुआ आवश्यक शब्द का अर्थ। अब इसके साथ निर्युक्ति शब्द लगा रहे हैं, उसका अर्थ कह रहे हैं। युक्ति नाम उपाय का है और निर्युक्ति शब्द एक संकेत शब्द है, जिसका पूरा नाम है निरवयव, अवयवरहित। जहाँ शरीर नहीं रहा, केवल ज्ञानपुञ्ज रहा, ऐसी अवस्था को निरवयव बोलते हैं अर्थात् मोक्ष। उस मोक्ष की युक्ति बना लेना, उपाय कर लेना, इसका नाम है निर्युक्ति। जो अवश पुरुष होते हैं, जो परद्रव्यों के अधीन नहीं हैं वे ही पुरुष निरवयव हो जाते हैं।

**उत्तम शब्दों का निकृष्ट अर्थ में रूढ़ होने का कारण**—जमाना प्राचीन काल में एक धार्मिक सभ्यता का था और उस समय जो पुरुष के लिए विशेषण बोला जाता था वह विशेषण अब धीरे-धीरे गालीरूप परिणत होता चला जा रहा है। जैसे उत्तम वस्तु दीन-हीन के हाथ पड जाय तो उसका दुरुपयोग ही होता है, ऐसे ही ये सब विशेषण जो व्यवहार में आज भी प्रचलित हैं, किसी समय लोगों की प्रशंसा के लिए थे, आज गालीरूप बन गए हैं। जैसे लोग कहते हैं नंगा, यह नंगा है, मायने जो आभ्यंतरबाह्य परिग्रहरहित हुआ, केवल शरीरमात्र ही जिसका परिग्रह है, ऐसा जो विशिष्ट योगी है, मनुष्यों के द्वारा पूज्य है, ऐसे विजयी पुरुष का नाम है नंगा, लेकिन दीन, गरीब, बेवकूफ लोगों को नंगा शब्द बोला गया, इसी से यह गालीरूप बन गया है। ऐसे ही लुच्चा मायने आलोचन करने वाला, तत्त्व का विचार करने वाला। जो बड़ा तत्त्वविचारक पुरुष है अर्थात् जो इतना विरक्त साधु संतपुरुष है कि अपने केशों का भी लुंचन करता है, ऐसे योग्य पुरुष का नाम है लुच्चा, लेकिन अयोग्य पुरुषों को बड़ी बात कहकर शर्मिन्दा करने का उपाय किया गया था और तब से यह शब्द गालीरूप परिणत हो गया है।

**उत्तम शब्दों की भांतिआवश्यक शब्द की विकृति**—लोग कहा करते हैं उचक्का। यह तो बड़ा उचक्का है। उचक्का शब्द का मूल शब्द है उच्चक:, उच्चै: शब्द में क प्रत्यय लगाकर उच्चक: बना है जिसका अर्थ है लोक में उच्च पुरुष है। जो उच्च हो उसका नाम है उचक्का, लेकिन आज चूँकि यह शब्द छोटे लोगों को शर्मिन्दा करने के लिए किसी समय बोला गया था तब से यह शब्द गालीरूप परिणत हो गया है। लोग कहते हैं कि यह पोंगा है। इसका मूल शब्द है पुंगव। पुंगव मायने श्रेष्ठ। पूजा में आप भगवान को भी पुंग बोलते हैं।'स्वस्ति त्रिलोकगुण्वे जिनपुंगवाय'भगवान पुंगव है मायने श्रेष्ठ हैं। पुंगा शब्द एक ऊँचा शब्द है, लेकिन लोगों ने जब किसी दुष्ट, हीन पुरुष के मजाक करने के लिये बोल दिया तो अब वह पोंगा शब्द गाली के रूप में परिणत हो गया है। यों ही समझ लीजिये कि जितने भी गालियों के शब्द हैं आज, सिंगल शब्द जोड़-तोड़ के वाक्यों वाले नहीं, जैसे कोई मां बहिन का नाम लेकर कहे वह तो प्रकट उद्दण्डता है, लेकिन जो सिंगल शब्द हैं, इकहरे शब्द हैं, वे सब प्रशंसा के शब्द हैं। यहाँ उदाहरण रूप दो-चार शब्द कहे हैं आज।

ऐसे ही आवश्यक शब्द की मिट्टी पलीत हो रही है। लोग गप्प करना, ताश खेलना, विषय भोगना, सिनेमा देखना, लड़ाई के लिए जाना, अनेक कामों के लिए आवश्यक शब्द बोलने लगे हैं। भाई हमारा समय अब नष्ट मत करो, हमें अभी एक आवश्यक काम पड़ा है। क्या काम पड़ा है? भोग विषय। ऐसी गंदी बातों के लिए आवश्यक शब्द बोलने लगे हैं, परन्तु आवश्यक का अर्थ है मोक्ष का उपाय बना लेना। भाई अब व्यर्थ के कोलाहल में हम अपना समय नहीं लगाना चाहते हैं। हम तो अपना निश्चय परमावश्यक काम करेंगे।

**बुद्धि का सुयोग**—भैया ! जो आवश्यक कार्य है योगियों का यह ही आनन्द का देने वाला है। प्रेम से किसी भी स्त्री, पुत्र, मित्र से बोल लो, समझो सब एक विपरीत मार्ग में बढ़ गये हैं। उस मोहजाल से,इस स्नेह परिणाम से,अंतरंग की कुश्रद्धा से वह मोक्ष मार्ग बहुत दूर हो गया है। इसमें तत्त्व कुछ न निकलेगा और जीवनभर स्नेह,मोह की बाधाएँ सहकर जब बुढ़ापा आ जाता है तब कुछ अक्ल ठिकाने आती है और इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और शरीर के नाते से यह पराधीन हो जाता है। अब उस अक्ल का क्या करें, जो अक्ल बुढ़ापे में आयेगी? वह यदि जवानी में आ जाय तो यह कितना अपना भला कर सकता है? बल हो तो जवानी का, अक्ल हो बुढ़ापे की और अवस्था हो बालकपन की—ये तीनों बातें यदि एक साथ मिल जायें तो वह पुरुष एक बालप्रभु है।

**स्ववशता की भावना**—योगी अपने हित में लीन रहता है। निज जो शुद्ध जीवस्वरूप है, प्रदेशात्मक दृष्टि से निरखकर शुद्धभाव रखने वाला जो यह जीवास्तिकाय है उस जीवस्वरूप को निरखिये, अन्य किसी भी पदार्थ के वशीभूत नहीं होना है। जो ऐसा करता है उसके ही निर्युक्ति होती है, मोक्षमार्ग का उपाय होता है। ऐसा जाप जपें, ऐसी भावना भायें, ऐसा ध्यान करें कि कितनी भी सम्पदा मेरे सामने आए तो भी हम उसमें न लुभायें, ऐसा मेरा ज्ञानबल बना रहे। देवांगना सदृश्य भी कोई रूपवती स्वयं ही कुछ प्रीतियाचना करे तब भी उसमें रंचमात्र भी लोभ न पैदा हो, ऐसा ज्ञानबल रहे।सारे जगत के लोग दृश्यमान् पुरुष मिलकर भी कोई प्रशंसा करें तिस पर भी उस प्रशंसा में मौज मानने की कल्पना न जगे और इस तत्त्वज्ञान के बल से अपने आपके स्वरूप का झुकाव बना रहे, ऐसा बल प्रकट हो।

**ज्ञानी की आन्तरिक चाह**—हे प्रभो ! मुझे अनन्त ज्ञान की चाह नहीं है, जो ज्ञान मेरे सारे विश्व को जाने। मुझे रंच चाह नहीं है कि मेरे ऐसा ज्ञान प्रकट हो जो ज्ञान सारे विश्व का ज्ञाता बने। केवल मुझे चाह है इतनी कि वह मेरा ज्ञान इस ज्ञान के स्वरूप का ही ज्ञान करने लगे, यह ही इच्छा है। मुझे केवलज्ञान की चाह नहीं है, मुझे ज्ञान के ज्ञान की चाह है, फिर केवलज्ञान चाहे अवश्य ही मेरे प्रकट हो, मैं क्या करूँ? लेकिन मुझे वाञ्छा केवल ज्ञान के ज्ञान की है, अन्य पदार्थों के ज्ञान की वाञ्छा नहीं है। हे प्रभो ! मैं ऐसा दर्शन नहीं चाहता कि तीन लोक का दर्शन मुझे होता रहे, मुझे तो इस श्रेष्ठ परमपुरुष का ही दर्शन चाहिए। मुझे अनन्त सुख न चाहिए, केवल कभी कोई आकुलता न रहे इतनी भर बात चाहिए। मुझे बल भी अनन्त न चाहिए, किन्तु मेरा ज्ञान ज्ञान के आधारभूत इस अभिन्न अंतस्तत्त्व में बना रहे, जमा रहे, इतना भर बल चाहिए। यों जो आत्मा में नियुक्त होता है उस पुरुष के अज्ञानरूप अंधकार नष्ट होता है। अपने से प्रकट हुई प्रकाशमय ज्योति के द्वारा जो अवस्था प्रकट होती है वह निरपेक्ष, शुद्ध, सर्वथा अमूर्त अवस्था प्रकट होती है, उस ज्ञानानुभूत में अनन्त आनन्द होता है। प्रत्येक सम्भव उपायों द्वारा एक इस ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का ज्ञान करना चाहिए।

## गाथा 143

वहदि जो नौ समणो अण्णवसो होदि असुद्दभावेण।
तम्हा तस्स हू कम्मं आवससयलक्खणं ण हवे।।143।।

**अशुभभाववर्ती साधु के आवश्यक का अभाव**—जो साधु अशुभोपयोग से सहित वर्तता है वह साधु अन्यवश है, इसी कारण उसके आवश्यक कर्तव्य हो सकता है। खोटे भाव रागद्वेषादिक हैं, उन रागद्वेष भावोंकरिके सहित जो मुनि वर्तता हैवह वास्तव में मुनि ही नहीं है, उसे भ्रमणाभास कहते हैं,झूठा मुनि अथवा द्रव्यलिंगी कहते हैं।वह तो अपने स्वरूप को त्यागकर अन्य परद्रव्यों के वशीभूत हुआ है। दूसरी बात जो मूल गुण का भी भली भांति पालन करता है और रागद्वेष, मोह की विशेष बात भी जिसकी प्रवृत्ति में नहीं आती है और श्रद्धान भी ठीक है, तथापि अपने पद की सीमा के बाहर रागद्वेष कर रहा हो तो वह जघन्य रत्नत्रय में परिणत है,ऐसे जीव के स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान नहीं होता, इससे इस अन्यवश साधु के निश्चय परमावश्यक कर्म कैसे हो सकता है? जो द्रव्यलिंगी साधु है,जिसके सम्यक्त्व नहीं जगा है, केवल उदरपूर्ति के अर्थ द्रव्यलिंग को ग्रहण कर लेता है, आत्मकार्य के विमुख है, तपश्चरण आदिक के प्रति भी उदासीन रहता है, ऐसा द्रव्यलिंगी साधु जिस मंदिर में रहे, जिस क्षेत्र में रहे उससे सम्बंधित जो पदार्थ हो उसको अपना मान लेता है, यह मेरा है, ऐसे साधुजनों के आवश्यक कर्म नहीं होता, मोक्षमार्ग नहीं होता।

**भावपूर्वक त्याग का निर्वाह**—जो पुरुष किसी बात में समृद्ध हो और वह गृह, परिवार का त्याग करके साधुव्रत ग्रहण करे तो उसकी साधुता भली प्रकार टिक सकती है। जैसे कोई धनिक पुरुष वैराग्य से वासित होकर लाखों की जायदाद का त्याग कर साधु हुआ है तो उसके परिणामों में निर्मलता बढ़ने का अवसर है। वह छोटी-मोटी बातों में दिल न लगा पायेगा, क्योंकि वह एक बड़ी समृद्धि और सम्पन्नता को त्याग करके साधु हुआ है, ऐसे ही जो ज्ञानकरिके समृद्ध हैं, विद्वान हैं, ऐसे पंडितजन जिनको कोई कष्ट भी न था, वे गृह-परिवार को त्यागकर साधु हों तो उनकी साधुता भी टिक सकती है, लेकिन प्राय: जो न तो ज्ञान से सहित है और न जिसके पास धन, सम्पदा भी कुछ है, खाने-पीने को भी तकलीफ रहती हो, वह अपने मतलब से ऐसे ही साधु हो जाय तो वहाँ साधुता न निभ सकेगी। परिणामों में उज्ज्वलता कहां आ पायेगी? जिसका प्रयोजन ही खोटा है वह कहां निर्मलता को पैदा कर सकता है? जो मनुष्य यों ही द्रव्यलिंग को ग्रहण करके आत्मकार्य से विमुख होकर कल्पनावों को अपनाता फिरता है, धन सम्पदा को अपनाता फिरता है उस पुरुष के परमआवश्यककर्म नहीं होता है।

**साधुवों के स्नेहबन्धन का अभाव**—साधुजन कोई शास्त्र भी पढ़ रहे हों और कोई पुरुष आकर यह कहे कि महाराज !यह शास्त्र तो बड़ाअच्छा है, यह तो हम लोगों के लायक भी है, क्या यह हमें मिल सकता है? तो साधु उसकी अंतर में अपनी अटक न रक्खेगा। यह मेरी किताब है, यह तुम्हें कैसे देंगे, तुम्हें हम कोशिश करेंगे मंगाने की, बन सकेगा तो दिला देंगे, यह नहीं दे सकते, ऐसा परिणाम साधु के आये तो वह शास्त्र परिग्रह में शामिल हो जाता है। साधुजन तो उस समय शास्त्र को देकर एक विश्राम पाते हैं,अपने विकल्पों से हटकर एक शुद्ध ज्ञानानुभव का यत्न करते हैं। जो साधु शुभोपयोग में लिप्त होते हैं वे पराधीन हैं। स्नेह करना एक बहुत बड़ा पाप है, इसमें सुबुद्धि हर ली जाती है और खुद भी स्वतंत्र नहीं रह पाता, जिससे स्नेह किया है उसके ही अधीन बने रहना पड़ता है। स्नेह से मिलता कुछ नहीं है, नुकसान ही सारा है।स्नेह के

बन्धन में किसी को लगा दो तो उससे बड़ा बैर और कुछ नहीं हो सकता है। जिन्हें हम मित्रजन,परिजन समझते हैं उनका यत्न यही तो होता है कि स्नेह के बन्धन में बंधा रहे यह। लाभ क्या मिलता है? कुछ भी नहीं। तो ऐसे ही स्नेह और द्वेष के भाव से जो साधु अपना उपयोग बिगाड़ता है उसके साधुता नहीं रहती।

**मोह की विचित्रता**—मोह की कितनी विचित्र लीला है कि जिन्हें कभी वैराग्य जगा था, जिसके फल में अपने घर को छोड़ दिया था और उसे घास का घर हो ऐसा मानकर त्याग दिया था, अब फिर जिस कुटी में, जिस झोंपड़ी में, गुफा में रहे उसमें यह बुद्धि कर ले कि यह मेरी गुफा है, यह मेरी झोंपड़ी है, यह तीव्र मोह की विचित्र लीला है। देखो तो सब कुछ छोड़ा, अब जिस स्थिति में रह रहा है उसी में मोह करने लगा। घरबार परिजन को तो छोड़ा है और समाज के प्रजा के लोगों में अंतरंग से मोह बना लेता है, ऐसी मोह की विचित्र लीला है। यह आत्मा ऐसे अनुपम गृह में निवास करता है परमार्थत:, जिसकी उपमा तीन लोक में कोई नहीं मिल सकती है, वह घर है एक ज्ञानप्रकाश, ज्ञानपुंज। जिस घर में किसी भी प्रकार के रागादिक तिमिर का सद्भाव भी नहीं ठहर सकता, ऐसे ज्ञानस्वरूप में रहने वाला यह साधु अपने इस शाश्वत अनुपम घर की सुध भूलकर जहाँ बाहर रह रहा है उस ही में स्नेह जमाये तो ऐसे साधु के मोक्षमार्ग नहीं रहता है।

**पदविरुद्ध वृत्ति में पतन**—श्रावकजन, गृहस्थ लोग इतना मोह,आरम्भ,रागद्वेष रखते हैं, धनसंचय करना, उसकी ममता होना, इतने पर भी गृहस्थ कुछ भी धर्म के लिए बुद्धि लगाये है तो वह गृहस्थ भला है, किन्तु वह साधु जो गृहस्थ के राग के मुकाबले हजारवां हिस्सा भी राग करता है तो वह साधु अपने साधुपद में नहीं रहा। लोग जैसे यह कह देते हैं कि ये साधु हमसे तो अच्छे हैं, ये नाराज होते हैं तो हो जाने दो, अटपट काम करते हैं तो कर लेने दो, हमसे तो सैकड़ों गुणा अच्छे हैं, लेकिन बात यह जानना चाहिए कि जो जिस स्थिति में है उस स्थिति से नीचे गिरे तो वह उस लायक नहीं कहला सकता। जो पुरुष बड़ा शान्त रहा करता है, वह किसी दिन क्रोध कर बैठे तो लोगों को यह विस्मय होता है और एक रातदिन झगड़ने वाला पुरुष कुछ भी क्रोध करता रहे, पर उस पर लोगों को विस्मय नहीं होता है, न खेद होता है। जो कपड़ा उज्ज्वल है, साफ है उस पर एक भी धब्बा लगे तो वह कपड़ा कलंकित माना जाता है और जो मैला कुचैला कपड़ा है उसमें न जाने कितने धब्बे लगे हैं,वह कपड़ा लोगों की दृष्टि में कलंकित नहीं माना जाता है। ऐसे ही जिन साधुवों को हम पंचपरमेष्ठी में शामिल करते हैं, जिनका नाम जपते हैं, माला फेरते हैं वे साधु कितने निर्मल होने चाहियें? इसका अनुमान कर लो। वे जिनेश्वर के लघुनन्दन माने गए हैं, छोटे परमात्मा माने गए हैं। यों कह लीजिए कि जो परमात्मा हो गए हैं वे तो परमात्मा हैं ही, पर साधु भी परमात्मा के निकट के पूज्य पुरुष हैं, वे परमेष्ठी अन्यवश हो जायें अर्थात् रागद्वेष के अधीन हो जायें तो उनके मोक्षमार्ग नहीं कहा है, उनका परमेष्ठीपना भी कैसा?

**साम्प्रत भी तपस्वियों का सद्भाव**—इस काल में भी कहीं-कहीं कोई भाग्यशाली जीव मोह के कीचड़ से हटकर अपने आपके धर्म की रक्षा करने में समर्थ आजकल भी पाये जा सकते हैं। जिसने समस्त परिग्रहों का विस्तार त्याग दिया है, जो पाप-वन को जलाने के लिए प्रचंड अग्नि के समान है, ऐसे मुनिराज इस पृथ्वी पर मनुष्यों के द्वारा व देवों के द्वारा भी पूजे जाते हैं, अर्थात् स्वर्गवासी देव भी स्वर्ग से आकर इस मनुष्य लोक में आकर ऐसे साधुजनों की पूजा करते हैं और अनेक मुनियों के द्वारा वे साधु पूजे जाते हैं। साधु नाम उसका है जो आत्मा को साधे, अर्थात् रागद्वेष से रहित होकर शुद्ध ज्ञानप्रकाश में ही उपयोग लगाये रहे, उसे साधु कहते हैं। वास्तविक तपश्चर्या यही है अपने आपके शुद्ध ज्ञानस्वरूप में अपने उपयोग को बसाये रहना। उस परमतपश्चर्या के लिए ही उपवास आदिक अनेक बाह्य तपश्चर्याएँ की जाती हैं।

**कार्य के मर्म की अनभिज्ञयता में विडम्बना**—भैया ! कोई काम तो करता रहे और उसका मर्म न जाने तो वह काम बिगड़ जाता है। कोई एक सेठ था, उसने घर में एक बिल्ली पाली हुई थी। उस सेठ की लड़की की शादी जब हो रही थी तो वह बिल्ली इधरउधर निकले। बिल्ली का इस प्रकार से आनाजाना ऐसे कार्यों में अशगुन माना जाता है। सो उस लड़की की शादी में उस बिल्ली को पिटारे में बंद करके भांवर पारी गई। एक दो शादियां ऐसे ही तो गयीं। सेठ तो अब गुजर गया। सेठ के लड़केबड़े हुए, उनको जब अपनी लड़कियों की शादी करनी पड़ी तो भांवर का समय आने पर वे सेठ के लड़के कहते हैं, ठहरो, अभी भांवर नहीं पड़ेगी। जब एक बिल्ली लाकर पिटारे के नीचे बंद की जायेगी तब भांवर पड़ेगी। जब एक बिल्ली कहीं से पकड़कर लाये, पिटारे के नीचे बंद किया, इस प्रकार का जब दस्तूर बना लिया तब भांवर पड़ी। यह तो है बुद्धि की बलिहारी। अरे ! किसलिए पिटारे में बंद किया जाता था? इस बात को तो भूल गए और यह दस्तूर बन गया कि जब बिल्ली पिटारे में बंद की जायेगी तब भांवर पड़ेगी।वास्तव में बिल्ली तो स्वयं साक्षात् अशगुन है, वह चूहे आदि जानवरों से ही अपना पेट पालती है। बहुत क्रूर जानवर बिल्ली मानी गयी है।

**शकुन का आधार**—शकुन और अशकुन का निर्णय ज्ञान और अज्ञान के प्रतीक से होता है। कोई मरा हुआ मुर्दा सामने दिख जाय, जा रहा है तो आप लोग उसे शकुन मानते हैं। जब कभी मुर्दा दिख जाय तो लोग कहते हैं कि आज शकुन हुआ है। किसी मुर्दे को देखकर एक बार तो अपने कल्याण की सुध आ ही जाती है, ज्ञान जग ही जाता है, कुछ वैराग्य की बात मन में आ ही जाती है। इस कारण उसे शकुन माना गया है। ऐसे ही जितनी भी चीजें शकुन मानी गयी है उन सबके भीतर ज्ञानप्राप्ति की बात पड़ी हुई है, इसलिए शकुन माना जाता है। सामने से कोई पानी से भरा घड़ा लिए हुए आ रहा है तो उसे लोग शकुन मानते हैं। वह किस प्रकार का शकुन है? वह घड़ा यह याद दिलाता है कि जैसे इस घड़े में पानी ऐसा लबालब भरा हुआ है कि इसके बीच एक सूत की भी जगह खाली नहीं है, पानी भरा हुआ है तो क्या पानी के बीच में कोई जगह भी रह सकती है कि जहाँ पानी न हो? जितने में पानी भरा हो वह पूरा घन है। पानी पानी से ही रचा हुआ क्षेत्र है, ऐसे ही यह मेरा आत्मा ज्ञान से ही रचा हुआ क्षेत्र है, इसके बीच में कोई भी दिशाप्रदेश नहीं है जहाँ ज्ञानगुण न हो। तो जैसे यह घड़ाभीतर में जलघन है इसी प्रकार यह आत्मा भी ज्ञानघन है। इस ज्ञानघनता का स्मरण दिलाने में वह जलपूर्ण कलश एक सहयोग देता है इस कारण शकुन माना गया है। गाय का बछड़ा कहीं दूध पीता हुआ दिख जाय तो लोग उसे शकुन मानते हैं। किस बात से उसे शकुन मानते हैं? वह याद दिलाता है कि जैसे गाय बछड़े की प्रीति निष्कपट होती है, उसमें स्वार्थ की कोई बात नहीं होती है, ऐसे ही निष्कपट प्रीति एक धर्मी दूसरे धर्मी से करे तो उसका उद्धार होता है। इस वात्सल्य की स्मृति दिलाने में कारण होने से वह गाय का बछड़ा शकुन माना जाता है। शकुन उसे कहते हैं जो हमारे इस ज्ञानानन्द स्वरूप की स्मृति दिलाये।

**आत्मा की प्रियतमता**—अपने आपके ज्ञानस्वरूप में अपना उपयोग रमाये यह है उत्कृष्ट तपश्चर्या, यह तपश्चर्या समस्त सुबुद्धियों को प्राणप्रिय है। बतलावो,सबसे अधिक प्रिय वस्तु क्या हो सकती है? प्रिय वस्तु की परीक्षा का यह विधान है कि दो चीजें सामने रक्खी हुई हों, उनमें से जिस किसी की उपेक्षा कर दें उसमें तो प्यार नहीं है ऐसा समझ लो और जिस चीज को ग्रहण कर लें, समझ लो कि उसमें प्रेम है। देखो—जब वह मनुष्य बच्चा रहता है तो इसे सबसे प्यारी अपनी माँ की गोद रहती है। उसे लाखों,करोड़ों की सम्पदा प्रिय नहीं रहती है। जब वह कुछ और बड़ा हो जाता है तो उसे फिर अपनी मां की गोद भी प्रिय नहीं रहती है, उसे खेलखिलौने प्रिय लगते हैं, अब उसको सबसे प्यारे खेलखिलौने लगते हैं, माता की गोद

अप्रिय हो जाती है। कुछ और बड़ा हुआ तो खेलखिलौने भी उसे प्रिय नहीं रहते हैं, उसे पुस्तक,बस्ता, पढ़ने के साधन इनमें चित्त लगता है। कुछ और बड़ा हुआ तो अब उसे ज्ञान की भी रुचि नहीं रहती। अब तो मुझे परीक्षा में पास होना है अर्थात् उसे परीक्षा में पास होने की रुचि हो जाती है। उसे तो डिग्री प्रिय हो जाती है। डिग्री मिलना चाहिए कैसे भी मिले? ज्ञान से उसे रुचि नहीं रहती है। कुछ और बड़ा हुआ तो उसे डिग्री भी अप्रिय हो जाती है, उसे स्त्री प्रिय हो जाती है। विवाह करता है। जब कोई पुत्र पैदा हो जाता है तो उसे पुत्र प्रिय हो जाता है, अब उसे स्त्री भी प्रिय नहीं रही। कदाचित् कभी घर में आग लग जाय और बच्चे भी भीतर पड़े हुए हों तो वहाँ वह अपनी जान बचायेगा, अपनी जान के मुकाबिले बच्चों से भी प्रेम न रहेगा। अब उसे सबसे प्यारी अपनी जान हो गयी। वही पुरुष कभी वैराग्य में बढ़ जाय, साधु हो जाय, स्वानुभव का आनन्द लूट रहा हो, कोई दुश्मन आकर उसे बाधा दे, जान ले तो क्या वह अपनी जान बचाने के लिए उस दुश्मन से लड़ाई ठानता है? अरे !वह तो अपने आपके आत्मा के ध्यान में ही लीन हो जाता है। अब वह अपनी जान की परवाह नहीं करता है, अब उसे अपने प्राण भी प्यारे नहीं रहे, उसे अपना आत्मा सबसे प्यारा रहा। ऐसे आत्मा को अपने उपयोग में लगाना, यही है परमतपश्चर्या। यही सबसे अधिक प्रिय वस्तु है। ऐसी योग्य तपश्चर्या सैकड़ों इन्द्रों के द्वारा भी सतत् वंदनीय है।

**अन्वयवशता से विघात व स्ववशता से उद्धार**—तपश्चर्या के पद को प्राप्त करके कोई साधु अथवा कोई पुरुष कामांधकार से अंधा बनकर सांसारिक सुख में रमे तो वह जड़मति है और अपने आपके आचरण से अपने आपका घात करने वाला है। मुनि भेष धारण करके भी यदि वह रागद्वेषों के वश हो जाय जो उसे संसारी वस्तु समझो। जो किसी भी परवस्तु के या रागादिक परभावों के वश नहीं होता है वही पुरुष जीवनमुक्त है और प्रभुता के करीब-करीब में है। जो मुनि स्ववश होता है, आत्मध्यान का अनुरागी होता है उसकी इस जैनमार्ग में शोभा है और जो दूसरे के वश हो जाता है वह यों समझिये कि जैसे कोई राजसेवक हो, इस तरह परवस्तुवों की, परजीवों की वह सेवा कर रहा है, उसके तपश्चरण नहीं है। प्रकरण तो साधुवों का है, इससे हम आपको भी यही शिक्षा लेनी चाहिए कि हम व्यर्थ कल्पना बनाकर अंतरंग से किसी परवस्तु के अधीन न बनें। अपने को सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप निरखें तो इस सर्वज्ञता के यत्न में मोक्षमार्ग प्राप्त होगा।

## गाथा 144

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे।।144।।

**शुभभाववशीभूत के भी निश्चयपरमावश्यक का अभाव**—जो संयमी पुरुष शुभ भावों में भी प्रवर्तता है वह भी अन्यवश है, इस कारण इसे आवश्यकस्वरूप कर्म नहीं होता है। निश्चय परम आवश्यक कार्य है रागद्वेष आदिक विकल्पों से रहित होकर केवल ज्ञानप्रकाशमात्र निजस्वरूप का आलम्बन। यही निश्चय परम आवश्यक काम है। यह आवश्यक पुरुषार्थ जैसे रागद्वेष के अशुभ विकल्पों में रहने वाले साधु के नहीं होता है इस ही प्रकार दया, परोपकार, स्तवन, वंदन, यात्रा आदिक शुभ कामों में लगे हुए साधु के भी यह परम आवश्यक काम नहीं होता अर्थात् शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के उपयोगों से रहित होने पर ही इस आत्मा के आवश्यक पुरुषार्थ बनता है। जो पुरुष शुभोपयोग के भी अधीन है उस अशुद्ध अंतरात्मा जीव के यह

आवश्यक कर्म नहीं होता है। है यह अंतरात्मा संयमी, किन्तु शुद्ध भावों में इसने उपयोग किया है, अत: इसे भी अशुद्ध कहा है।

**शुभअशुभ भावों की बन्धन में समानता**—शुभभाव से कर्मबन्धन होता है, अशुभभाव से भी कर्मबन्धन होता है। शुभभाव से कर्म का बंध हुआ, अशुभभाव से पाप का बंध हुआ, किन्तु पुण्यभाव और पापभाव जैसे ये दोनों ही सांसारिक भाव हैं, विकार भाव हैं, इसी प्रकार पुण्यकर्म और पापकर्म ये दोनों भी संसार की बेड़ियाँ हैं। जैसे किसी रईस पुरुष को जेलखाना किया जाय और सोने की बेड़ी बाँध दी जाय और किसी गरीब को लोहे की बेड़ी कस दी जाय तो बन्धन में तो दोनों ही बराबर हैं। सोने की बेड़ी से कैद में रहे तो परतंत्रता, लोहे की बेड़ी से कैद में रहे तो परतंत्रता। ऐसे ही जिसके पुण्यकर्म का उदय है वह भी परतंत्र है और जिसके पाप का उदय है वह भी परतंत्र है। इसीलिए तो संसार एक गोरखधंधा है। पुण्य के उदय में जीव मौज मानता है, अपने को सुखी समझता है लेकिन यह पुण्य उसे फिर इस संसार में डूबा देता है।

**पुण्यपाप का परिणाम**—भैया ! क्या होगा पुण्यकर्म से? पुण्यकर्म का उदय है। धन,सम्पदा विशेष मिल गयी तो धन,सम्पदा मिलने पर प्राय: विषयकषाय भोगने का ही यह जीव परिणाम किया करता है। ऐसे बिरले ही ज्ञानीपुरुष हैं जो पुण्य के उदय से पाये हुए धनसम्पदा में भी अपने परिणामों को संभालकर रख सकें। प्राय: करके जीव धनसम्पदा पाकर भ्रष्ट ही हो जाता है धर्म की पंक्ति से। तो पुण्य के उदय से धनसम्पदा मिली, विषयभोगों में आसक्ति हुई। विषयभोगों में आसक्ति होने से तीव्र पाप का बंध हुआ और उस पाप के उदय में नरकादिक दुर्गतियों में जन्म लेना पड़ा। तो यह पुण्य कौनसी भली बात हुई जिस पुण्य के कारण कुछ समय बाद इसे दुर्गतियों में जाना पड़े?और देखो पाप का उदय आया, उपद्रवउपसर्ग आये और यह जीव उन उपद्रवउपसर्गो में कुछ प्रभु की ओरआया, कुछ ज्ञान जगा, ज्ञानबल बढ़ा,शुद्ध परिणाम किया, मोक्षमार्ग मिल गया, निर्वाण का रास्ता तय करके मुक्त हो जायेगा सभी पापपुण्य रहित होकर। पाप के उदय ने कौनसा बिगाड कर दिया और पुण्य के उदय ने कौनसा सुधार कर दिया? सुधार होता है, जीव के शुद्ध ज्ञानभाव के कारण। पुण्य पाप दोनों ही बेड़ियाँ हैं, संसार में रुलाने वाली हैं।

**ज्ञानी की अवशता**—जो ज्ञानी पुरुष है वह न परपदार्थों के अधीन होता है, न अशुभ भावों के अधीन होता है और न शुभ भावों के अधीन होता है। अशुभभाव में जकड़कर रहना, अशुभभाव के करने में मौज मानना, अशुभ भाव से हित समझना, यह है अशुभभाव का बन्धन और दया, दान, पूजा, वंदना, यात्रा परोपकार आदि परिणामों में मौज मानना और इन शुभ भावों से हित समझना, इन शुभ भावों को करना अपना कर्तव्य मानना—ये सब हैं शुभभाव के बन्धन। जो शुभभाव के बन्धन में है उसके निश्चय परमआवश्यक काम नहीं होता है।

**प्रभु का निष्पक्ष उपदेश**—देखो ! जिनेश्वरदेव ने स्पष्ट बताया है कि हे भक्त लोगों ! तुम लोग जब तक मेरी भी भक्ति,आराधना, पूजा करते रहोगे तब तक निर्वाण न पावोगे । कवि लोगों की कल्पना में मानो कोई भगवान कह रहे हैं कि तुम लोग हमारी शरण में आवोगे तो हम तुम्हें मुक्ति दे देंगे, जबकि जिनेश्वरदेव का यह उपदेश है कि भक्त जनो ! जब तक मेरी भक्ति का भी तुम विकल्प रक्खोगे तब तक निर्वाण न पा सकोगे। जिसकी कृपा से, जिसके उपदेश के प्रसाद से निर्वाण के मार्ग में हम लगे हैं उनका भी भेदभाव छोड़कर, विकल्प तोड़कर एक शुद्ध निज ज्ञानस्वरूप में रम जाने पर निर्वाण मार्ग की प्रगति होती है। जो जीव शुभभाव के भी अधीन है उसके भी परमआवश्यक कार्य नहीं होता है।वे योगी पुरुष जो कर्म और संसार

के कर्मों को नष्ट करने के लिए उद्यमी होते हैं,वे जिनेन्द्रदेव के निरूपित परम आचार शास्त्रों में लिखी हुई विधि के अनुसार अपना आचरण बनाते हैं।

**साधु का त्रयोदशांग व्यवहारचारित्र**—जैन आगम में साधु के तेरह अंग का चारित्र बताया है। हिंसा का पूर्ण त्याग, असत्य का पूर्ण त्याग, चोरी का पूर्ण त्याग, ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन और परिग्रह का पूर्ण त्याग, ये तो 5 महान् व्रत हैं। और चलो तो देखभालकर चलना, अच्छे परिणामों से चलना, किसी जीव को कष्ट न पहुंचे, इस प्रकार से गमन करना यही ईर्यासमिति है। हितकारी,मधुर,परिमित वचन बोलना यह 7वां आचरण है। भोजन करने जायें तो निर्दोष विधि से भिक्षा आहार ग्रहण करना यह एषणा समिति है। कोई चीज धरना उठाना कमण्डल, शास्त्र आदिक अथवा उठें, बैठें, लेटें तो प्रासुक जमीन देखकर अथवा उस धरने उठाने वाली चीज को देखभालकर धरना उठाना यह आदाननिक्षेपण समिति है। कभी शौच जाना हो, मूत्रक्षेपण करना हो, थूक, खकार, नाक आदि को फेंकना हो तो जमीन शुद्ध निरखकर फेंकते हैं ताकि जमीन पर पड़े हुए किसी भी जीव को बाधा न पहुंचे। इस प्रकार से क्षेपण करना यह उनका 10वां चारित्र है और मन को वश करना,कोई विकल्प न होने देना, अथवा मन न माने तो वंदन,पूजन,चिन्तन इन ही शुभ भावों में लगाना, वचनों का निरोध करना या वचनों से बोलना भी पड़े तो एक धर्म की ही बात बोलना, शरीर को वश में रखना आदिक तीन गुप्तियों को मिलाकर 13 आचरण होते हैं।

**निर्दोष बाह्यचारित्र में भी परमावश्यक का भाव**—त्रयोदशविध आचरणों में यह संयमी सावधान रहता है। यों यह शुभोपयोग में भी चलता है। व्यवहारिक जो प्रक्रियाएँ हैं, धर्मध्यान के आचरण हैं उनमें भी लगता है और चारित्र के चरणानुयोग के जो कुछ भी प्रवर्तन हैं उनमें भी चलता है, याने समस्त व्यवहार क्रियावों में सावधान रहता है। समय पर स्वाध्याय करता, रोज एक बार ही भोजन करके अथवा उपवास आदि का पालन करके चारों प्रकार के आहारों का त्याग कर देते हैं दूसरे दिन तक के लिए। जो जो क्रियाएँ उसे करनी चाहिये प्रवृत्ति में उन सब क्रियावों में वह सावधान रहता है। सुनने में अच्छा लग रहा होगा कि वह संयमी बड़ा अच्छा काम कर रहा है, लेकिन संयमी पुरुष को ऐसा भला आचरण करके भी उन आचरणों से संतोष ही नहीं है, उसे तो ज्ञान के अनुभव में ही संतोष आता है। इस मन, वचन, काय की चेष्टावों को करनातो कर्मों के उदय का फल है, मेरे आत्मा का स्वाभाविक काम नहीं है। देखा ! आपने स्वभाव का परिचय रखने वाला भावलिंग साधु जब शुभोपयोग से भी विराम लेकर एक शुद्ध स्वभाव के आलम्बन में आता है तब उसके परमआवश्यक काम होता है। यही है आवश्यक काम।

**आवश्यक शब्द का दुरुपयोग**—भैया ! मोहीजन तो लड़ने,भिड़ने को भी आवश्यक काम बताते हैं। मुझे बहुत जरूरी काम है। क्या जरूरी काम है? फलाने की खबर लेना है, उसकी ठुकाईपिटाई करना है, वह जरूरी है। घरगृहस्थों में प्रेम करना है यह जरूरी काम है।इस आवश्यक शब्द की इन मोही जीवों ने मिट्टी पलीत की है। जो अर्थ 'आवश्यक' शब्द के किसी भी हिस्से से नहीं निकलता है उन सब दुष्कर्मों को मोहियों ने आवश्यक काम बताया है। अरे !ज्ञानीजन जानते हैं कि उपवास अथवा वन्दन स्तवन अतितत्त्वों का पालन—ये तक भी निश्चय परम आवश्यक नहीं हैं। शब्दार्थ से देखिये,जो केवल परमब्रह्म ज्ञायकस्वरूप के अवलम्बन में ही हैं अर्थात् स्ववश हैं, उनका जो काम हो रहा हो उसका ही नाम आवश्यक है। ये साधु जब चाहें भगवान अरहंत परमेश्वर की स्तुति करने में भी व्याप्त रहते हैं, कितनी ही स्तुतियां कर रहे हैं और तीन काल में कुछ करने योग्य काम हैं उन सबको करते हैं। यह उन साधुवों की बात कह रहे हैं जो बड़ी निर्दोष क्रियावों से

चल रहे हैं और जो जो साधु के करने योग्य काम हैं उनमें बस रहे हैं लेकिन जब तक बाह्य क्रियावों में हैं, अपने ज्ञानस्वरूप के आलम्बन में नहीं हैं उस समय भी परम आवश्यक काम नहीं कहा है।

**प्रतिक्रमणविकल्प में भी निश्चयपरमावश्यक का अभाव**—प्रतिक्रमण 7 प्रकार के होते हैं। रात्रिक प्रतिक्रमणरात्रिभर में जो अपराध होते हैं उन अपराधों को दूर करना, उनकी आलोचना करना, उन अपराधों से रहित आत्मस्वभाव का ध्यान करना, प्रायश्चित्त लेना, ये सब रात्रिक प्रतिक्रमण है। दैवसिक प्रतिक्रमण दिनभर में जो कुछ अपराध किया है रात्रि के प्रारम्भ में प्रतिक्रमण करना प्रायश्चित्त करना, ये सब दैवसिक प्रतिक्रमण है। एक अपराध कितनी बार पछतावे में लिया जाता है सो ध्यान करिये। रोज-रोज तो करता ही था पर उन सब अपराधों को 15 दिन में एक बार फिर से अपने सामने लेता है। उनकी निन्दा करता है, उनसे निवृत्त होता है। फिर इस तरह चार महीने व्यतीत होने पर उन समस्त अपराधों को फिर अपने प्रायश्चित्त में लेता है। फिर एक साल व्यतीत होने पर पुन: एक बार सालभर के समस्त अपराधों को फिर ख्याल करके उनको दूर करता है, फिर अंत में जब मरणकाल आता है तो जीवन भर के समस्त अपराधों को प्रतिक्रान्त करता है। इन प्रतिक्रमणों को बोलतेसुनते हुए शुभ विकल्प में रहते हुए साधु के भी निश्चय परमावश्यक नहीं है।

**ज्ञानी के निरपराधस्वरूप का चिन्तन**—अहो !यह मैं आत्मा रागद्वेषादिक समस्त अपराधों से रहित केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। इसमें अपराधों का स्वभाव नहीं है, किन्तु उपाधि का संसर्ग पाकर अपने आपकी सुध भूलकर इन रागद्वेषादिक अपराधों को भ्रमवश कर रहा हूँ,करता था, अब ये मेरे मिथ्या हों। मैं अपने निरपराध स्वरूप कोही ग्रहण करूँगा। निरपराध स्वभाव में तीन शब्द हैं, नि: अप राध। निर उपसर्ग है, अप उपसर्ग है और राध संज्ञा शब्द है। राध संसिद्धौं धातु से राधो शब्द बना है। राधा अर्थात् आत्मसिद्धि। यह राधा जब पास में नहीं रहती है तो उस भाव को अपराध कहते हैं। राधा नाम है सिद्धि का आत्मानुभव का, आत्मोपलब्धि का। राधा न हो तो वह अपराध हो गया और अपराध अलग हो जाय तो वह निरपराध हो गया, अर्थात् अब इस साधक के राधा का समागम हुआ है। निरपराध रहना इस आत्मा का स्वभाव ही है लेकिन इस शब्द को भूलकर यह जीव अपराधी बन रहा है। उन अपराधों का यह साधु प्रतिक्रमण भी करता है। जिस प्रतिक्रमण के स्वरूप से ऐसा संतोष उत्पन्न होता है जिससे यह धर्मरूप शरीर रोमांचित हो गया है निरपराध होने के लिए और धर्ममय बनने के लिए उत्साहित हो गया है, ऐसा भी यह पुरुष जब तक प्रतिक्रमण के सुनने में,बांचने में,बोलने में लग रहा है तब तक उसके यह निश्चय परमआवश्यक काम नहीं है।

**निश्चय परमावश्यक कार्य व उसका सहयोगी व्यवहारचारित्र**—भैया ! यह बहुत भीतर के पते की बात कही जा रही है। तब समझ लीजिए कि केवल पूजन,वंदन अथवा कुछ परोपकार के काम,साधुसेवा इतने ही मात्र से संतोष नहीं करना है। यह तो हम कुपथ में न चले जायें और सुपथ में हमारी दृष्टि बनी रहे उसका एक उपाय है। करने योग्य काम तो अपना जो सहज स्वरूप है उस सहजस्वरूप में उपयुक्त होकर मग्न रहने का है, लेकिन यह उत्तम कार्य गृहस्थजनों से कुछ कम बनता है, साधुजनों से विशेष बनता है, इस कारण आवश्यकजनों को मंदिर और अनेक विधिविधान का आश्रय करना बताया है। यह गृहस्थ साकार है, सागार है और साधु निराकार है, अनगार है। इन सब संसार के संकटों के लिए हम सबका यह कर्तव्य है कि संसार की छोटीमोटी बातों में भी हठ न करें और यहाँ की गुजरी हुई घटनावों से सम्मान,अपमान न मानें यह तो मोहनिद्रा की स्वप्न जैसी बात है। हम अपनी प्रकृति ऐसी बनाएँ कि कोई अपराध करे तो भी उसे क्षमा कर दें। हम न क्षमा कर सकें तो आत्मा का कोई लाभ न पायेंगे। बल्कि कुछ शल्य रखने के कारण हम अपना

बिगाड़ ही कर लेंगे। हम अपना लोकव्यवहार इतना पवित्र रक्खें कि कभी कुछ व्यग्रता करने की जरूरत न रहे। जो पुरुष न्यायवृत्ति से रहता है उसको कोई फिक्र नहीं होती है, चिन्ता और शोक नहीं होता है। जो अन्यायवृत्ति से रहता है उसे चिन्ता और शोक क्षणक्षण में सताते रहते हैं।

**यथार्थ आनन्दलाभ का उद्यम**—भैया ! क्या चाहिए तुम्हें? आनन्द ना? आनन्द तो ज्ञान की स्वच्छता से मिलेगा। सोना,चाँदी से आनन्द का रस निकलता हुआ कभी किसी ने देखा है क्या? यदि देखा हो तो बतावो।वहाँ पर भी यह जीव कल्पित मौज मनाता है। मौज एक ज्ञान की कल्पनारूप उपयोग से उत्पन्न होता है, उस धन से मौज नहीं उत्पन्न होता है। अपनी अनन्तनिधि को भूलकर साधारणसी कल्पित निधि में अपना उपयोग जमाया है, उससे आनन्द में बाधा ही डाली है, आनन्द नहीं लुटा है। हम सबका कर्तव्य है कि छुटपुट बातों पर ध्यान न रखकर जैसे इस एक शुद्ध ज्ञान का ही हमारा विकास हो, उसका ही हमें उद्यम करना चाहिए। अध्ययन करें, स्वाध्याय करें, परिणामों को निर्मल रक्खें तो इस उपाय से उद्धार का मार्ग मिलेगा।

**अनशनऊनोदर तप करने पर भी पर्यायबुद्धि का खेद**—मोक्ष में साक्षात् कारण अपने आत्मा के आश्रय होने वाला सहज भाव है। अपने को ज्ञानमात्र अनुभव में जो नहीं ले सकता ऐसा पुरुष निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु होकर और बड़ी-बड़ी तपस्यायें करके भी इस परमावश्यक अमूर्त तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता है। बाह्य तत्त्व भी कितना दुर्धर काम है कि अनेक साधुजन दो चार दिन भी नहीं, 6 माह तक का भी लगातार निर्जल उपवास कर लिया करते हैं। आज न हों इतनी ऊंची तपस्या के साधक, किन्तु निकट पूर्व में कभी थे। भूख से कम खाना भी एक बड़ा तप है। कम नहीं खाया जा पाता, पेट भरने के बाद भी कोई इस बात का खेद करते हैं कि यह मटका भर गया, नहीं तो और खा लेते। ऐसी दृष्टि वाले मोही जगत में पेट से कम खाना भी कितना बड़ा तप है? साधुजन कहो एक ग्रास ही लें, दो चार ही ग्रास लें, इस तरह वे सूक्ष्म भोजन करते हैं और 32 ग्रास से कम ही ग्रास लेते, ऐसा उत्कृष्ट तपश्चरण भी करते, पर हाय रे मोही प्राणी, पर्याय बुद्धि हो जाय कि मैं साधु हूँ,मुझे तप करना चाहिए, ऐसा सोचे तो उसका मोक्षमार्ग रुद्ध हो जाता है।

**रसपरित्याग तपकरके भी पर्यायबुद्धि का खेद**—मोक्ष अथवा मोक्षमार्ग क्या बाहरी चेष्टावों से मिलेगा? अरे ! वह तो ज्ञान में मिलेगा। पर ज्ञान का प्रकाश उत्कृष्ट रूप से तब ही हो सकता है जब ज्ञान के बाधक परिग्रह, जो कि ममता के साधन हैं, न रहें। निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष में रहकर मोक्षमार्ग की साधना बन सकती है लेकिन कोई उस दिगम्बर भेष से ही प्रेम करने लगे और शरीर की बुद्धि में अटक जाय तो वहाँ मोक्षमार्ग नहीं मिलता है। रसपरित्याग भी कितना कठिन तप है? रस का त्याग करना तो दूर रहो, रसीले मिष्ट पकवान के खाने की ही धुन बनी रहती है। ऐसे इस मोही जगत में रसपरित्याग भी कितना दुर्धर तप है? वैसे हिसाब सबका एकसा ही बन जाता है। आप चार दिन पकवान खायें तो 8 दिन मूंग की दाल पर ही रहना पड़ेगा। हिसाब सब बराबर हो जायेगा, पर यह मोही जीव अपने विवेक का संभाल कर नहीं रखता। बारहों महीने सात्त्विक भोजन खायें, रसीले व्यञ्जन न खायें तो कोई हरज नहीं है पर कितना अज्ञान है कि मिष्ट, स्वादिष्ट, रसीले चीजें खायें बिना चैन नहीं पड़ती।

**विविक्तशय्यासन से पर्यायबुद्धि को अलाभ**-एकान्त निवास भी बड़ी तपश्चर्या है। यह तपश्चरण भी बड़ा महत्त्व रखता है। विषयों की दृष्टि में आत्मा कायर हो जाता है, ज्ञानबल घट जाता है, शान्ति और आनन्द के लिए यह मोही जीव विषयों का प्रसंग जुटाता है, किन्तु फल उल्टा निकलता है, क्लेशजाल ही बढ़ता है। ये बाह्य

तपश्चरण भी बड़ा महत्त्व रखते हैं, लेकिन धन्य है यह आत्मज्ञान जिसके बिना इतने दुर्धर तप करके भी इस संसार में ही भटकना पड़ता है। कितने बड़े दुर्धर क्लेश साधु सहते हैं?

**विविध कायक्लेश तप करने पर भी पर्यायबुद्धि का खेद**—साधुजन शीतकाल में जहाँ कि झंझावात चल रहा है, नदी के किनारे अथवा किसी मैदान में अविचलरूप से एक आसन मारकर आत्मा की सुध के लिये यत्न करते हैं। ग्रीष्मकाल में जहाँ घर के बाहर पैर भी रखना कठिन पड़ता है, साधुजन पहाड़ की शिखर पर, छायारहित प्रदेश पर अपने आसन को स्थिर करके तपश्चरण करते हैं। ऐसे भी अनेक तपश्चरण किए जाते हैं। इन बाह्य तपों में निरन्तर उत्सुकता भी बढ़ रही है, किन्तु जो तपस्वी निरपेक्ष नहीं है, अर्थात् शुभभाव का आलम्बन होने से यह परभाव के अधीन हुआ है उसे स्ववश नहीं करते हैं। उसके कर्तव्य को आवश्यक कर्तव्य नहीं कहते हैं। कोई पुरुष किसी परवस्तु के स्नेह से बँध जाय और कोई अपने आपमें जो रागद्वेषादिक भाव हैं उनसे बंध जाय, जीव बंधता रागद्वेष से ही है, परवस्तु से नहीं बँधता है और कोई अपने आपमें जो धर्म के नाम पर दया, दान, तप, भेष जो कुछ मानता है उसके भाव में ही बँध जाय तो ये सब परतंत्र जीव हैं। परतंत्रता भावों से होती है। जिसका उपयोग स्व की ओरलगा है, वह शरीरादिक के अनेक बंधनों में पड़ा हुआ भी स्वतंत्र है। जिसका उपयोग परद्रव्य और परभाव की ओर लगा है वह धर्म के नाम पर बड़े कठिन तपश्चरण भी करे तो भी वह परतंत्र है। मोह में साधुभेष का भी नाटक किया जा सकता है।

**आत्मज्ञान के बिना तपश्चरण करके भी लाभ का अभाव**—यद्यपि यह बात निर्विवाद है कि साधु भेष में आए बिना निर्वाण नहीं होता है, उत्कृष्ट धर्मध्यान और शुक्लध्यान नहीं किया जा सकता है, पर ऐसे भेषमात्र से ही तो निर्वाण नहीं हो जाता। जो निरपेक्ष तपोधन निश्चय से निज परमात्मतत्त्व में विश्रांति लेता है, अपना स्वात्माश्रित धर्मध्यान और शुक्लध्यान को जानता है वही स्ववश है, स्वतंत्र है। उसके ही परमावश्यक काम होता है। अरे ! एक आत्मज्ञान बिना ऊँचे तपश्चरण करने का फल क्या होगा? अधिक से अधिक स्वर्ग में उत्पन्न हो जायेगा। क्या स्वर्ग में क्लेशों से बच जायेगा यह जीव? यद्यपि वहाँ खानेपीने,ठंडगर्मी का क्लेश नहीं है, वैक्रियक शरीर है, पर सबसे अधिक क्लेश तो मन का हुआ करता है। लोग शारीरिक सुख की दृष्टि से स्वर्ग की उत्सुकता मानते हैं, स्वर्ग मिल जाय, वह तो स्वर्ग ही गया होगा, पर यह नहीं जानते कि स्वर्ग में इस लोक से भी अधिक क्लेश सम्भव है। जैसे यहाँ लखपति धनी पुरुष बड़ी मौज में हैं, पर तृष्णा ऐसी बसी है कि उनके आगे जो दूसरे धनी हैं उनको देखकर मन में क्लेश बना ही रहता है। कहां वहाँ सुख है?

**यहाँ के सम्पन्नजनों के क्लेश से देवों के क्लेश का अनुमान**—भैया !यहीं देख लो,एक भिखारी से लेकर करोड़पति तक के प्राय: सभी लोग दु:खी मिलेंगे। दृष्टि डाल लो ऊँचे से ऊँचा धनी हो, उसकी चर्या निरख लो,सुखी कोई न मिलेगा। सुख सम्पदा से नहीं होता। आनन्द तो ज्ञान से प्रकट होता है। आनन्दमय जो स्वयं है उस स्वयं के परिचय से ही आनन्द प्रकट होता है। देखिये—आपका किसी पर यदि 40 हजार का कर्जा है, आपको इतना उससे लेना है और वह गरीब हो जाय, पंचायत करे। लोग यह तय कर दें कि तुम इनसे 100) रु. लेकर फारकती लिख दो,39 हजार 900 छोड़ दो तो आप वहाँ क्या यह नहीं कह देते कि मुझे ये 100 रुपये भी न चाहियें। यों ही जब आपने अनेक भवों में अरबों, खरबों की सम्पत्ति को पा करके भी छोड़ दिया तो अब इस थोड़ीसी सम्पदा की भी क्या इच्छा कर रहे हो? अब इस तुच्छ सम्पदा में क्या तृष्णा करना और यहाँ भी प्रकट देख ही रहे हैं कि सब कुछ किसी दिन छूट जायेगा इससे ही अनुमान कर लो कि स्वर्गों में काहे का आनन्द है? क्लेश परम्परा यहाँ भी है। वे निरन्तर अपने से अधिक वैभव बालों को निरखकर मन ही मन कुड़ते रहते हैं, जलते रहते हैं।बड़े देव छोटे देवों पर हुकूमत करके दु:खी होते हैं और

छोटे देव दूसरों की हुकूमत पाकर दु:खी होते हैं। वहाँ भी कौनसा सुख है? आत्मज्ञान बिना जो तपश्चरण किया जाता है उससे मानो स्वर्ग मिला जो कि शुभोपयोग का फल है। वहाँ शुभ राग के अंगारों में तपता रहा। कितनी मूढ़ता है वहाँ? देवों में और देवियों में उनके शरीर में हाड़, मांस, खून, रज वीर्य कुछ नहीं है। अच्छा वैक्रियक शरीर है, बड़ा रूपवान देह है, फिर भी वे काम वासना में मस्त त्रस्त रहते हैं।

**परम गुरु के प्रसाद का लाभ**—इन जीवों की संसार सीमा निकट आए, आसन्नभव्यता का गुण प्रकट हो तब ही इसे परमगुरु का लाभ प्रकट होता है। सच्चे गुरु की प्राप्ति होना समस्त पुण्यों में महान पुण्य का फल है। गुरुजन निरपेक्ष बंधु होते हैं। मित्रजन, परिजन तो किसी स्वार्थ के माध्यम पर अपना स्नेह जताते हैं, किन्तु गुरुजन तो एक आत्महित की स्पृहा से ही लोक के भले की बात के प्रतिबोधन से ही वे जगत का उपकार करते हैं। कोई निकटभव्यता आए, होनहार निकट ही अच्छा होने की हो तो परम गुरु का प्रसाद मिलता है। लोग कहते हैं कि गुरु जिस पर प्रसन्न हो जायें उसका भला हो जाता है। गुरु प्रसन्न वहाँ ही होते हैं जिस शिष्य को गुण रुचे हों। स्वयं गुरु आत्मगुण में रुचि रखता है अत: ऐसे शिष्य को देखकर प्रसन्न हो जाता है। इस प्रसन्नता में उसके मन, वचन, काय की चेष्टा इस प्रकार होती है कि वे शिष्यजन आराम से ही कोई ऐसी कुञ्जी पा लेते हैं कि जिससे निज परमात्मतत्त्व के दर्शन में अटक नहीं रहती है। जिसका होनहार निकटकाल में ही उत्तम हो उसे परम गुरु के प्रसाद का लाभ होता है। उस प्रसाद से इस परमात्मतत्त्व का श्रद्धान, परिज्ञान और अनुष्ठानरूप शुद्ध निश्चय रत्नत्रय के परिणमन में उत्साह जगता है, यह निकट भव्य ही निर्वाण को प्राप्त होता है।

**यथार्थरुचि के विषय का निर्वाचन**—देखो भैया !खुद का खुद ही में घुलमिल जाना है? इतना सस्ता सीधा काम, स्वाधीन काम कितना विकटपहाड़सा जँच रहा है और जिस परवस्तु में हम त्रिकाल भी घुलमिल नहीं सकते उसमें घुलनेमिलने का काम कितनाआसान जंच रहा है? निज ब्रह्म में ही लीनता हो तो इसका कल्याण हो सकता है। बाह्यपदार्थ में स्नेह जगे यह तो दावानल में जलभुनकर खत्म होने के समान है,किसमें स्नेह करते हो? जो पवित्र हो, पूज्य हो, जिस स्वरूप में हित है उस स्वरूप का जहाँ विकास हो उसमें स्नेह करिये। इस घिनावने शरीर में क्या स्नेह किया जाय? जो अपनी ओर से विरुद्ध परिणमन करे उसमें स्नेह करना फालतू है। जगत के ये सभी जीव मुझसे विरुद्ध परिणमन करने वाले हैं, किसमें दिल कब तक साधोगे, किसकी कषाय कब तक पूरी करोगे? दिल साधतेसाधते भी तो रोज-रोज दिल बिगड़ता है, किससे स्नेह किया जाय? स्नेहरहित ज्ञानप्रकाशमात्र निज सहजस्वरूप में रुचि जगावो। यह ही पुरुषार्थ आत्महित के लायक है। इस ही आत्मपरिणति से निर्वाण प्राप्त होगा।

**वैमानिकता में भी सार का अभाव**—हे कल्याणार्थी जनो ! संसार की चारों गतियों में क्लेश ही क्लेश है,उसकी रति छोड़ो। स्वर्ग लोक का भी प्रेम छोड़ो, वहाँ भी क्लेश ही क्लेश है। आखिर वहाँ से भी च्युत होकर इस भूलोक में ही जन्म लेना पड़ता है। लोक में एक प्रसिद्धि है कि तपस्या करके जीव बैकुण्ठ में पहुंचता है और चिरकाल तक बैकुण्ठ में रहकर फिर वहाँ से कोई शक्ति ढकेल देती है, फिर संसार में जन्ममरण करना पड़ता है। इसमें मर्म और है क्या? यह मर्म कि यह मनुष्य साधु बनकर निर्ग्रन्थ भेष रखकर बड़ी ऊँची तपस्या करे किन्तु ब्रह्मज्ञान न हो, आत्मसुध न हो, पर्यायबुद्धि बनी हो, मैं साधु हूँ,मुझे तपस्या करनी चाहिए, ऐसा उत्साहसहित तपश्चरण हो तो वह तप के प्रभाव से बैकुण्ठ में जन्म ले सकता है।बैकुण्ठ नाम है गैवेयक का। लोक की रचना में जहाँ इस मनुष्याकार लोक में कंठ का स्थान पड़ा वहाँ से यही महाशक्ति बैकुण्ठ का ही नाम ग्रीवा है। ये साधु बाह्य तपस्या करके बैकुण्ठ में पैदा होते हैंऔर उसे कहते

हैं बैकुण्ठ। जो छिपी हुई शक्ति थी, यह इसे नीचे ढकेल देती है और संसार में जन्ममरण लेना पड़ता है। स्वर्ग के प्रति भी क्या स्नेह करें? हे कल्याणार्थी जनो ! स्वर्ग की भी प्रीति तज दो और निर्वाण का कारण जो शुद्धोपयोग है उसका आश्रयभूत जो निज सहज परमात्मतत्त्व है उसकी निरन्तर उपासना करो।

**निष्पक्ष अनुभवरूप पुरुषार्थ का निर्देशन**-यह परमात्मतत्त्व परमानन्दमय है। इसमें सर्वत्र निर्मल ज्ञान का विकास है यह सहजज्ञानस्वरूप निरावरण है, किन्तु यह आत्मतत्त्व किसी पक्ष दृष्टि को रखकर अनुभव में नहीं आता है। मैं मनुष्य हूँ,मैं अमुक कुल का हूँ,इस प्रकार की जब तक दृष्टि है तब तक यह आत्मतत्त्व अनुभव में नहीं आता है। कहां जाति है, कहां कुल है? वह तो मनुष्य भी नहीं है, देवता भी नहीं है, कोई जंतु प्राणी भी नहीं है, वह तो केवल ज्ञानपुंज है। ऐसी शुद्ध दृष्टि मेंदेह ही नहीं रहता तो अन्य पक्षों की तो चर्चा ही क्या करें? समस्तपक्ष इस देह के देखने से उत्पन्न होते हैं, समस्त नाते समस्त रिश्तेदार, इस देह को 'यह मैं हूँ'ऐसा मानने से बनते हैं। समस्त विपत्तियां और विडम्बनावों की जड़ इस देह की बुद्धि है,जो देह परिजनों के द्वारा किसी दिन बेरहमी के साथ जला दिया जायेगा। इस देह में जो आत्मबुद्धि लगी है बस यह कुबुद्धि ही समस्त विडम्बनाओं का मूल है। किसी क्षण यदि देहरहित केवल ज्ञानपुंज आत्मतत्त्व का अनुभव करो तो संसार के सारे संकट नियम से कट जायेंगे।किसी भी नाम पर पक्षपात न करो और आत्मतत्त्व के नाते से आत्मस्वरूप को जानकर आत्ममग्न होने का अपना पुरुषार्थ बनावो, यह व्यवसाय ही हमारा सत्य पुरुषार्थ है और हमें आनन्द पद में पहुंचा देगा, अन्य सब रागद्वेष की चेष्टाएँ केवल विडम्बनामात्र हैं।

## गाथा 145

दव्बगुणपज्जयाणं चित्तं जोकुणइ सोवि अण्णवसो।
मोहांधयाखवगयसमणा कहयंति एरियसं।।145।।

**ज्ञानविकल्प की प्रीति में अन्यवशता**—प्रकरण यह चल रहा है कि निश्चय से परमआवश्यक काम क्या है? दुनियावी लोग विषयकषायों के साधनों को जुटाना ही आवश्यक काम समझते हैं किन्तु वे सब काम आवश्यक नहीं हैं। आवश्यक उसे कहते हैं जो पुरुष किसी अन्य पदार्थ के वश में न हो, ऐसा अवश, स्वतंत्र पुरुष का जो कार्य हो, अर्थात् साधुसंतों के करने योग्य काम को आवश्यक कहते हैं। जो पुरुष अपने आत्मस्वरूप को छोड़कर अन्य किसी भी परभाव के अथवा परपदार्थ के वश होता है उसे अन्यवशकहते हैं। इस गाथा में अन्यवश का स्वरूप कहा गया है। जो पुरुष द्रव्य,गुण,पर्याय में अर्थात् उनके विकल्पों में मन को लगाता है वह भी अन्यवश है। ऐसा मोहांधकार से दूर रहने वाले साधुसंत जन कहते हैं।

**परवशता का विवरण**—जो पुरुष धन,मकान,सम्पदा आदि में चित्त रमाते हैं वे तो अन्यवश प्रकट ही हैं। जो परिजनों में, मित्रजनों में,कुटुम्बियों में अपना चित्त लगाते हैं वे भी प्रकट अन्यवश हैं, किन्तु निश्चय से तो वह भी अन्यवश ही है जो अपने रागद्वेष आदि विकारों में उपयोग लगाता है। रागादिक रूप ही मैं हूँ,इस प्रकार जो आत्मप्रतीति बनाये रहते हैं अथवा जो रागादिक सुहाते हैं, उनकी ही ओर जो आकर्षण बनाये रहते हैं वे भी अन्यवश हैं। यहाँ तो उन सब अन्यवशों से अत्यन्त सूक्ष्म अन्यवश की बात कही जा रही है।धर्मकार्य में ज्ञान की आवश्यकता होती है और वह ज्ञान द्रव्यगुणपर्यायरूप में किया जाता है। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्रस्वतंत्र अपना स्वरूप लिए हुए हैं। प्रत्येक पदार्थ में सहज अनन्त शक्ति शाश्वत चली आयी है, उन शक्तियों का

दूसरा नाम गुण है। उन गुणों के प्रत्येक के परिणमन निरन्तर चलते रहते हैं। वे परिणमन उन पदार्थों के गुणों की व्यक्त दशा है। देखो ना,विकल्पों में वस्तु के स्वरूप का विचार करना तो भला है ना, किन्तु इस गाथा में यह बता रहे हैं कि इन विकल्पों में भी जो अपना मन लगाते हैं वे भी अन्यवश हैं। केवल जो अपने सहज ज्ञानशक्ति स्वरूप में उपयोग लगाये हैं वे तो अवश हैं, स्वतंत्र हैं, मोक्षमार्गी हैं, किन्तु जो आत्मस्वभाव से च्युत होकर विकल्पों में लगता है वह अन्यवश है।

**धर्मचर्चा में भी विवाद कलह होने का मूल कारण**—भैया ! कभी देखा होगा विद्वान्-विद्वान् बैठे हों और वे धर्म की चर्चा कर रहे हों, समझदार हैं, अपने ज्ञान की बात बता रहे हैं, द्रव्य पर्याय की चर्चा चल रही है, निमित्त उपादान आदि अनेक प्रकरण चल रहे हैं, उन प्रसंगों में एक दूसरे को जबरदस्ती कुछ मनाना चाहते हैं। बात ऐसी है, तुम जो कहते हो सो झूठ है, ऐसा दबाव डालते हैं और कभीकभी तो धर्मवार्ता के मध्य में भी तनातनी हो जाती है और झगड़ा होने लगता है। यह झगड़ा किस बात का है? इस झगड़े का मूल है विकल्पों में बुद्धि का रमना। विकल्पों में जो आत्मीयता का जो उपयोग किया है, जो ऐसा विकल्प करता है यह मैं हूँ,यह विकल्प मैं हूँ,मेरी बात यह मानता नहीं है, अरे ! यह कितनी महती विडम्बना है? धन,सम्पदा पर झगड़ा हो तो यह कहा जा सकता है कि पैसे के बिना गृहस्थ जीवन नहीं गुजार सकते हैं इसलिए पैसे पर झगड़ा हुआ है, लेकिन धर्मावार्ता पर,ज्ञान की चर्चा पर भी झगड़ा होने लगे तो इसे कितना व्यामोह माना जा सकता है? जो पुरुष इन विकल्पों में भी अपना चित्त रमाता है उसे अन्यवश कहा है।

**शुभविकल्प की अपनायत में श्रमण की अन्यवशता**—कोई द्रव्यलिंगधारी साधु जिसे अपने आत्मा के सहजस्वरूप का अनुभव नहीं जगा है, किन्तु निर्ग्रन्थ भेष धारण करके 28 मूल गुणों का विधिवत् पालन करता है, उन क्रियावों में, विकल्पों में जो संतोष मान लेता है ऐसा द्रव्यलिंगधारी पुरुष चाहे वह बड़ा विद्वान् भी क्यों न हो और होते ही हैं ग्यारह अंग 9 पूर्व तक के पाठी, इतना विद्वान् होकर भी कितने ही द्रव्यलिंगी श्रमण रहा करते हैं। भगवान अरहंत देव के दिव्यध्वनि की परम्परा से चला आया जो पदार्थ का वर्णन है, कैसा वह मूल में है, कैसा उनका परमात्म विकास है, इन समस्त पदार्थों का प्रतिपादन करने में यह साधु बड़ा समर्थ है। फिर तो उन छहों द्रव्यों की चर्चा में वस्तुस्वरूप की चर्चा के विकल्प में अपना चित्त रमाता है तो उसे भी परतंत्र कहा गया है। यह भी साधु पराधीन हो गया है, स्वाधीन नहीं रहा है। यद्यपि ये साधु किसी धन,सम्पदा के अधीन नहीं हुए हैं, बाह्य परिग्रहों से पूर्ण विरक्त हैं और वे इतने दिल के पक्के हैं कि कोई दुश्मन इन्हें पीटे, मारे, इन पर उपसर्ग करे तो वे भी समता धारण करते हैं, उसे किसी भी प्रकार का वे कष्ट नहीं पहुंचाना चाहते हैं, किन्तु उस समता के मूल में भाव यह पड़ा है कि मैं साधु हूँ,मुझे समता से रहना चाहिए, रागद्वेष न करना चाहिए, ऐसा अपने आपमें शुभविकल्पों में आत्मतत्त्व का विश्वास बनाये हैं। तो इस पर्यायरूप के विकल्प से वह साधु भी अन्यवश है, परतंत्र है।

**परमब्रह्मस्वरूप के परिचय बिना विज्ञान निपुण के भी परमावश्यक का अभाव**—यह चर्चा आत्मा के अंत: मर्म की चल रही है। आत्मा का अंतरंग, वास्तविक, शुद्ध, निरपेक्षस्वरूप जो है उसके स्वीकार किए बिना यह जीव दुर्धर तपस्या करके और ज्ञान की बड़ी-बड़ी चर्चायें करके भी परवश रहा करता है, उसके आवश्यक कर्म नहीं होता। इन छहों द्रव्यों में एक द्रव्य तो मूर्तिक है,पुद्गल द्रव्य। जिसमें रूप, रस, गंध,स्पर्श पाया जाय उसे मूर्तिक कहते हैं। मूर्त केवल पुद्गलद्रव्य ही है। शेष के 5 द्रव्य जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अमूर्त पदार्थ हैं, इसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श नहीं है। इस प्रकार मूर्त और अमूर्त के भेद से पदार्थों का परिज्ञान और प्रतिपादन किया जा रहा है, अथवा छहों द्रव्यों में केवल जीवद्रव्य तो चेतन है शेष पुद्गल, धर्म,

अधर्म, आकाश और काल—ये 5 द्रव्य अचेतन हैं। इनका विस्तार,इनकी परिणतियां, इनका विधिविधान, निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध, स्वभाव और विभाव रूप परिणति—इन सब चर्चावों में भी जो चित्त लगाये है और उनका वर्णन करने में भी बड़ा कुशल है ऐसा भी ज्ञानी पुरुष एक परमब्रह्मस्वरूप का ग्रहण न कर पाने से परतंत्र है और उसके आवश्यक काम नहीं कहा गया है।

**अपनी बात—**यह चर्चा बहुत गहरी है, साधारण परिज्ञान से भी समझ में नहीं आती है, लेकिन चर्चा अपनी चल रही है, अपने आपके आत्मा की बात है। जो पुरुष इतनी बड़ी प्रतिभा रख रहा हो, बड़े-बड़े व्यापार रोजगार के हिसाब कर रहा हो और बड़े विज्ञान की बातें भी बना सकता है वह पुरुष अपने आपके आत्मा की सही बात न समझ सके ऐसा कैसे हो सकता है? किन्तु रुचि और बुद्धि चाहिए।दृष्टि अपने आपकी ओरहो तो यह सब सुगम है। निज सहज परमब्रह्मस्वरूप को 'यह मैं हूँ'ऐसा अनुभव किए बिना यह जीव कर्मों को दूर नहीं कर सकता है। इस संसारी जीव ने अपने आपको नाना रूपों में मान रक्खा है। जो जीव जिस शरीर को धारण करता है वह उसही रूप अपने को मानता है और इसी कारण शरीर में कुछ भी बाधा आए, रंच भी संकट आए तो अपने को विपन्न अनुभव करता है। मैं बहुत विपत्ति में हूँ। अरे ! सबसे बड़ी विपत्ति तो यह है कि शरीर को अपना माना जा रहा है। शरीर में रोग हो गया अथवा धन सम्पदा में कुछ कमी हो गयी तो यह कोई संकट नहीं है। ये तो समस्त परपदार्थ हैं, इनका परिणमन उन ही पदार्थों में हो रहा है। तेरे को इससे क्या संकट है? संकट तो यह है कि इन परपदार्थों में तू आपा मान रहा है 'यह मैं हूँ'इस प्रकार का जो भीतर में भ्रम पड़ा है यह भ्रम ही महान् संकट है, इस जीव पर अन्य कुछ संकट नहीं है। परवस्तुवों में होने वाली स्थितियों से यह मोही जीव अपने पर संकट मान लेता है।

**गुण पर्यायों का विज्ञान—**यह पदार्थ के स्वरूप के प्रतिपादन की बात चल रही है। प्रत्येक पदार्थ अपने गुणों में कुछ न कुछ परिणमन कर रहा है और प्रत्येक पदार्थ अपनी कोई न कोई शकल बनाये रहता हैं। पदार्थ में आकार बनने की परिणति है उसे तो व्यञ्जनपर्याय कहते हैं और पदार्थ में गुणों के परिणमन की जो विशेषता है उसे अर्थपर्याय कहते हैं। जैसे ये दृश्यमान भौतिक पदार्थ पुद्गल हैं, ये अपना कोई न कोई रूप रखते हैं, काला, पीला, नीला, लाल, सफेद आदि कुछ भी रंग रखते हैं। ये भौतिक पदार्थ खट्टा, मीठा, कडुवा, कषायला, चर्परा इत्यादि कोई न कोई अपना रस परिणमन रखते हैं, इसी तरह रूखा, चिकना, कड़ा, नरम, ठंडा, गरम इत्यादि स्वभावरूप अपने आपको बनाये रहते हैं। यों ही सुगंध,दुर्गन्ध आदिक भी कुछ परिणतियां हैं। ये पकड़ी नहीं जा सकती हैं, उठायी नहीं जा सकती हैं। जरा इन पदार्थों का रंग उठाकर दे दो। आप नहीं दे सकते हैं। इसी प्रकार जरा किसी पदार्थ का रस लाकर दे दो, नहीं दिया जा सकता है। ये तो केवल स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु इन्द्रिय के द्वारा जाननरूप ग्रहण में आया करते हैं। ये सब तो गुणपर्याय हैं। इन पदार्थों का जो यह ढाँचा बना है, कोई गोल है, कोई चौकोर है, कोई तिखूँटा है, इस प्रकार का जो आकार बना है वह व्यन्जनपर्याय है।

**अन्तस्तत्त्व के अनुभव के बिना विविध विज्ञान से आवश्यक का अभाव**—यों अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय की चर्चा करके भी अथवा इस गुणपर्याय और व्यञ्जनपर्याय से भी अत्यन्त सूक्ष्म जो षड्गुण हानिवृद्धि द्वारा पदार्थ का निरन्तर अर्थ परिणमन चला करता है, उसका प्रतिपादन,इतना गहरा सूक्ष्म वर्णन करके भी जो साधु इन विकल्पों में ही रमता है और धर्म की बात करके ही अपने को संतुष्ट मान लेता है वह भी अन्यवश है, पराधीन है। अभी उसने जो सहज निज स्वरूप है उस स्वरूप का अनुभव नहीं किया है, इसके भी यह

परमआवश्यक काम नहीं होता है। इस द्रव्यलिंगी साधु ने त्रिकाल निरावरण नित्य आनन्दस्वरूप जो निज कारण समयसार है अर्थात् अपने आपका जो सहजस्वरूप है उसमें चित्त नहीं दिया है।

**स्वगुणपरिणमन**—यह सहजस्वरूपसहजगुणों और सहजपरिणमनों का आधारभूत है। जिस प्रकार से हम आपमें उस आनन्द गुण का विकास हो रहा है, चाहे वह दु:ख के रूप में हो रहा हो, चाहे सुख के रूप में हो रहा हो अथवा शुद्ध आनन्द के रूप में हो रहा हो, वह सब मेरे गुणों से ही उठकर हो रहा है। किसी अन्य भोजन आदिक परपदार्थों से उठाकर यह सुख नहीं उत्पन्न होता है, किन्तु एक बाह्य ऐसी परिस्थिति है कि यह जीव भोजन करके उस निमित्त और प्रसंग में उठ तो रहा है अपने आपके ही आनन्द गुण से सुख परिणमन, किन्तु भ्रमवश मानता है कि मुझे भोजन में सुख मिल रहा है।

**परानन्दभ्रम पर एक दृष्टान्त**—जैसे कोई कुत्ता किसी सुखी हड्डी को चबाता है तो उस चबाने में दांतों का वज़न उसके मसूड़ों पर पड़ता है जिससे उसके ही मसूड़ों से खून निकलता है। उस खुद के ही खून कास्वाद उसे आता रहता है लेकिन मानता है कि मुझे हड्डी का स्वाद मिल रहा है। यों ही ये संसार के प्राणी इन पन्चेन्द्रिय के विषयों को, इन भौतिक साधनों को भोगकर इनके प्रसंग में आनन्द तो मिल रहा है खुद के ही आनन्द गुण का किन्तु भ्रम यह हो गया है कि मुझे भोजन का स्वाद आ रहा है; पुत्र, मित्र, स्त्री का सुख आ रहा है। इस कारण इन विषयसाधनों को सुरक्षित बनाए रखने के लिए और इनका परिवर्द्धन करने के लिए रातदिन श्रम किया जा रहा है। भैया ! इस आत्मा को इतनी सुध नहीं है कि अरे ! यह समस्त चमत्कार तेरे आत्मा का ही है, जितना ज्ञानविकास है वह तेरे आत्मा से ही प्रकट होता है, जितना आनन्दविकास है वह भी तुझसे ही प्रकट होता है,किसी बाह्य वस्तु से नहीं।

**महापुरुषों को आत्मदर्शन में सन्तोष**-जो पुरुष विवेकी होते हैं, ज्ञानवान् होते हैं, जिन्होंने जगत का और अपने आपके यथार्थस्वरूप का भान किया है उन पुरुषों के ऐसा वैराग्य जगता है कि पाये हुए राज्यपाट को, करोड़ोंअरबों की सम्पदा को असार जानकर उसका त्यागकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष में वस्त्र मात्र भी जो परिग्रह नहीं रखते हैं, केवल शरीर मात्र ही उनके साथ है, ऐसे परमविविक्त बनकर वन में अपने आपका ध्यान करते हैं, अपने आपका दर्शन करके संतुष्ट रहा करते हैं।भला उन्हें यदि उस जंगल में अपने आपका अद्भुत आनन्द न मिलता होता तो वे जंगल से भागकर अपने छोड़े हुए राजपाट को संभालने क्यों नहीं आ जाते? एक बार घर से निकलकर फिर घर आ गए हैं, ऐसा देखकर घर के लोग खुशियां मनाते, पर आपने बड़े-बड़े पुराणों को भी पढ़ा होगा—बड़े-बड़े राजा लोग, सेठ लोग उस त्यागे हुएवैभव के बीच फिर नहीं आए। वे तो जंगल में ही आत्मध्यान में ही मस्त रहे, उसमें ही संतुष्ट रहे। कैसा अद्भुत आनन्द है इस आत्मा में?

**अध्यात्मयोगज आनन्द में कर्मनिर्दहनसामर्थ्य**—आत्मा के स्वरूप का भान होने से जो एक अद्भुत विलास प्रकट होता है उस आनन्द में ही यह सामर्थ्य है कि भव-भव के संचित कर्मों को क्षणभर में ही विनष्ट कर दे। कष्ट सहने से कर्म नहीं मिटते हैं बल्कि बँधते हैं। तपस्वीजन तपस्या करके, उपवास करके, तीनों गुप्तियों की कठिन साधना करके अन्तरंग में निरन्तर प्रसन्न रहा करते हैं, कष्ट नहीं मानते हैं। अज्ञानी जीवों को ऐसा दिखता है किये साधु संत बड़ा कष्ट भोग रहे हैं किन्तु ज्ञानी पुरुष इस बात का अंतरंग में बड़ा संतोष मान रहे हैं कि मैं अन्य पदार्थों के विकल्प से हटकर निर्विकल्प आनन्दधाम निजस्वरूप की ओर लग रहा हूँ। जो पुरुष कभी भी अपने आपमें अपने उपयोग को नियुक्त नहीं करता वह बड़ी तपस्यायें करके भी पराधीन है। ऐसा प्रतिपादन उन संत पुरुषों ने किया है, जिनके मोह का अंधकार रंच भी नहीं रहा है। जिन्होंने इस

परमात्मतत्त्व की भावना करके वीतराग परम आनन्द प्रकट किया है ऐसे महाश्रमणों ने,परमश्रुत केवली भगवंतों ने बताया है।

**योगी का आत्मप्रयोजन**-ज्ञानी पुरुष ऐसा चिन्तन करते हैं कि आत्मकार्य को छोड़कर अन्य जगह चित्त लगाने से लाभ न होगा। जो आत्मनिष्ठ यति हैं उन यतियों का किसी अन्य पदार्थ से कुछ प्रयोजन नहीं है। जब तक जंतुवों के परविषयक चिन्ता बनी रहती है तब तक उनका संसार में संसरण चलता रहता है। अनेक कुयोनियों में वे जन्ममरण पाते रहते हैं। जैसे अग्नि को ईंधन का सहवास मिल जाय तो अग्नि बढ़ती ही रहती है इस ही प्रकार इस जीव को परविषयक चिन्ता विकल्प रहे तो इसका संसार बढ़ता रहता है। ज्ञानी,विरक्त साधुसंत समस्त परद्रव्यों से उपेक्षा करके निज सहज ज्ञानानन्दस्वरूप का अनुभव करने में ही उत्सुक रहा करते हैं और इनके ही परमआवश्यक कर्तव्य हुआ करता है।

## गाथा 146

परिचत्ता परभावं अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।।146।।

जो श्रमण परभाव को त्यागकर निर्मल स्वभाव वाले आत्मा को ध्याता है वह ही वास्तव में आत्मवश है, स्ववश है, अवश है और ऐसे ही श्रमणश्रेष्ठ के आवश्यक कर्म होता है, ऐसा भगवंतदेव ने कहा है।

**पर, परभाव व परोपाधिजभाव से विविक्त आत्मभाव का ध्यान**—आत्मा में वे परभाव कौन-कौन हैं जिनका विकल्प तोड़ना है और वह निजभाव कौनसा है जिसका आलम्बन करना है?परभाव के अनेक अर्थ हैं, भाव का नाम पदार्थ भी है। परभाव अर्थात् पर-पदार्थ। एक अपने आत्मतत्त्व को छोड़कर, आत्मपदार्थ को छोड़कर जितने भी अन्य पदार्थ हैं वे सब परभाव हैं। यथा—धन,सम्पदा,परिजन,कुटुम्ब,देह,मित्रजन आदि। परभाव का दूसरा अर्थ है पर का भाव। जो परपदार्थ हैं उनका जो परिणमन है, स्वरूप है वह भी परभाव है। ये परभाव उन्हीं परपदार्थों में तन्मय हैं। परभाव का तीसरा अर्थ है पर-उपाधि के निमित्त से जायमान विरुद्धभाव, विभाव। ये परभाव रागद्वेष मोहादिक हैं, ये परभाव औदयिक भाव हैं। इन परभावों का परित्याग करके यह योगी आत्मस्वभाव को ध्याता है।

**क्षायोपशमिक विलासों से विविक्त आत्मतत्त्व का ध्यान**—अब इन परभावों से भी और अंत:परभावों को तकिये आत्मा में जो विकल्प,वितर्क,विचार,छुटपुट ज्ञान उठते हैं वे भी आत्मा के निजभाव नहीं हैं। ये कर्मों के क्षयोपशम का निमित्त पाकर आत्मविकास रूप भाव हैं, यह है क्षायोपशमिक भाव। अब इससे और अंत: चलिए। तो आत्मा में जो मिथ्यात्व आदिक प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व अथवा चारित्र मोह के उपशम से उत्पन्न हुआ औपशमिक चारित्ररूप भाव है यह भी परभाव है। यद्यपि यह औपशमिक भाव आत्मा का एक विकास है किन्तु इस भाव का आविर्भाव कर्म के उपशम को पाकर होता है और उपशम होने पर इसकी जितनी स्थिति हो सकती है उतनी गुजरने पर यह उपशम भाव मिट जायेगा। इस कारण यह औपशमिक भाव भी परभाव है।

**क्षायिकभाव से विविक्त आत्मभाव का ध्यान**—अब और अंत: चलिए। तो कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाला जो क्षायिक भाव है यह भाव यद्यपि आत्मा का शुद्ध विकास है, कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने के कारण इस भाव का फिर कभी अभाव भी नहीं होता है, क्योंकि कर्मों का क्षय भी सदा के लिये हो चुका है। अब कोई भी कर्म प्रादुर्भूत न होंगे और न यहाँ किसी प्रकार का विकार भी आविर्भूत होगा। इतनी शुद्धता है किन्तु भाव की दृष्टि सापेक्ष है, क्षायिक भाव याने कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाला परिणाम। इस प्रकार क्षायिकता के नाते से यह क्षायिक भाव भी परभाव है। इन समस्त विकल्पों का परित्याग कर जो श्रवण निजभाव में अपना उपयोग लगाता है, उसका ही आश्रय लेता है उसके ही परमआवश्यक काम होता है।

**आत्मा का सहज निजभाव**—वह निजभाव क्या है जिसके आश्रय में परमावश्यक होना है? वह है चित्स्वभाव, परमपारिणामिकभाव, सहजस्वरूप। यह सहज चैतन्यभाव किसी पर की अपेक्षा से नहीं है, न किसी पर की सत्ता से प्रादुर्भूत होता है, न पर के वियोग से प्रादुर्भूत होता है। यही आत्मा का शाश्वत प्राण है अथवा स्वभाव स्वभाववान् में भेद नहीं होता है। स्वभाव स्वभाववान् से अलग नहीं है, फिर स्वभाव को किसी भी दृष्टि से स्वभाववान् से भिन्न प्रतिपादन करना, धर्मधर्मी की रीति भी बताना, यह सब व्यवहार का प्रतिपादन है। व्यवहार से ही यहाँ अखंड वस्तु को खंड करके समझाया गया है।

**व्यवहार से पारंगत निजभाव के ध्यान में आवश्यक**—भैया ! व्यवहार के दो काम होते हैं, जोड़ करना और तोड़ करना।जोड़ करना यह तो व्यवहार की जघन्य दृष्टि है और तोड़ करना यह व्यवहार की उससे उत्कृष्ट कक्षा की दृष्टि है, फिर भी जोड़ करना और तोड़ करना—ये दोनों ही व्यवहार हैं। जैसे जो आत्मा के भाव नहीं हैं, परभाव है, रागद्वेषादिक हैं उन्हें आत्मा में जोडना ये रागादिक आत्मा के हैं, ऐसा बताना यह जोड़रूप व्यवहार है और आत्मा में ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, आनन्द आदिक गुण, ये अभेदरूप हैं। इनमें आत्मा शाश्वत तन्मय है, फिर भी प्रतिबोध करने के लिए हमें तोड़ करके कहना पड़ता है। जैसे आत्मा में ज्ञान,दर्शन,श्रद्धा,चारित्र आदिक अनन्त गुण हैं, यह तोड़रूप व्यवहार है। इस परमपारिणामिकभाव में जो जोड़ लगावे, तोड़ लगावे ऐसी पद्धति न बनाकर, किन्तु स्वयं निरपेक्षता का प्रयोग करके अपने अनुभव में उतारे, वहाँ जो कुछ इसे अनुभूति होती है वह निजभाव है। ऐसे निजभाव को जो योगी ध्याता है वह आत्मवश है, अपने अधीन है अर्थात् स्वतंत्र है। उसके ही ये समस्त आवश्यक कर्म होते हैं।

**परमजिन योगीश्वर का स्वरूप**—इस गाथा में ऐसे योगीश्वर का स्वरूप कहा गया है जो रागद्वेषादिक विभावों को जीतने वाला है और एक सहज चैतन्यप्रकाश के अतिरिक्त अन्य किसी भी तत्त्व का आलम्बन नहीं ले रहा है, ऐसा साक्षात् अवश परमजिनयोगीश्वर का इसमें स्वरूप कहा गया है। ऐसा शुद्ध जिसका उपयोग है, इस सहजस्वरूप में रम रहा हो, जिसे इस शुद्ध आत्मतत्त्व के दर्शन के सिवाय अन्य कुछ भी न रुचता हो, यही साधु परमेष्ठी है, पूज्य है, आराध्य है, उपास्य है, ऐसे योगीश्वर का ज्ञान द्वारा सत्संग करने में वह फल मिलेगा जो इस योगीश्वर को असीम आनन्द मिला है। यह योगीश्वर निरुपराग निरञ्जन स्वभाव को उपयोग में लिए हुए है। इसके देह लगा है, पर देह की इसके दृष्टि ही नहीं है, देह का कुछ ख्याल ही नहीं है, हमारे देह भी लगा है इतना तक भी विकल्प नहीं है, यह तो रागद्वेषरहित केवल ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपमें अनुभवा जा रहा है।

**सहजनिजभाव की मनोवाक्कायागोचरता**-यह परमजिन योगीश्वर औपशमिक आदिक भाव का परित्याग करके ऐसे निर्मलस्वभाव का ध्यान करता है जिसका ध्यान काय की क्रियावों के व वचनों के अगोचर है। शरीर द्वारा जो क्रियाकाण्ड किये जाते हैं धर्म के प्रसंग में भी वे क्रियाकाण्ड एक शुद्धभाव के अनुमापक हैं, किन्तु वे शुद्ध

ध्यान के साधन नहीं हैं। कोई पुरूष अपने आप में अपने सहजस्वरूप का ध्यान दृढ़ बनाये रहता हो, और उसको कदाचित् शरीर धर्म के कारण बाह्य में कुछ क्रियाएँ करनी पड़ती हैं तो वे क्रियायें इस प्रकार होती है कि वे सब आत्मशुद्धि के अनुमापक हैं। जैसे जो पुरूष अन्याय करता हो, अभक्ष्य खाता हो, अयोग्य आचरण करता हो तो यह अनुमान होता है कि इसे धर्म की श्रद्धा नहीं है। धर्म की श्रद्धा न होना यह भीतर के परिणामों का कार्य है, बाह्यप्रवृत्ति का नहीं है, किन्तु वह बाह्य प्रवृत्ति उस अश्रद्धा का, मिथ्यात्व का अनुमापक है। इस ही प्रकार ज्ञानियों का यह समस्त चरणानुयोग, चारित्रपालन साधुवों की अंतरंग स्वच्छता का अनुमापक है। आवश्यक कर्म अथवा कर्म विनाश का साधनभूत परिणाम इस अंतरंग में ज्ञायकस्वरूपक उपयोग है। यह ध्यान काय को क्रियावों के द्वारा नहीं हो सकता है। इस ध्यान के लिए कुछ पात्रता विवेकी मन से जगती तो है, किन्तु इस मन का भी कार्य निरावरण निरुपमज्ञायकस्वरूप का अनुमान कर देना नहीं है, किन्तु इस ज्ञायकस्वरूप का अनुभव जगता है तब वह मन उस परिणमन प्रसंग से अलग हट जाता है।वहाँ केवल इस निरपेक्ष उपयोग का इस निरपेक्ष स्वभाव में मिलन होता रहता है, ऐसे निरावरण निर्मल स्वभाव का जो योगीश्वर ध्यान करता है, वही वास्तव में स्वतंत्र है, स्ववश है।

**आत्माश्रयण की शिक्षा**—इस प्रकरण से हमें यह शिक्षा लेनी है कि हम जानबूझकर अपने श्रम से कितनी परतंत्रता बढ़ाये चले जा रहे हैं, बाह्यपदार्थों का विकल्प मचाकर परतंत्र बने हैं और अपने आपमें उठने वाली कषायों को अपनाकर परतंत्र बने हैं, इन विषयकषायों के परिणामों से रहित एक ज्ञानप्रकाश ही जहाँ विस्तृत हो रहा है ऐसे ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपका आश्रय हो तो वह आत्मा स्वतंत्र है, ब्रह्मज्ञ है, ब्रह्मनिष्ठ है, आत्ममग्न है। जो आत्ममग्न पुरुष है वही वास्तव में स्वतंत्र है। इस स्वतंत्रता के बिना, इस आजादी के बिना समस्त पापरूप बैरी अपनी विजय-पताका फहरा रहे हैं अर्थात् इस जीव में ये सर्वविषयकषायों के पाप स्वच्छन्द उमड़ रहे हैं और इसे बरबाद किए जा रहे हैं। इन समस्त बैरियों की सेना की पताका को ध्वस्त कर देने में समर्थ यह कारणसमयसार का ध्यान है। जहाँ शुद्ध विधि से निज ब्रह्मस्वरूप का आलम्बन लिया वहाँ कोई पाप नहीं ठहर सकता है। इस प्रकार जो आत्मस्वभाव का ध्यान करता है वही वास्तव में आत्मवश पुरुष है। ऐसे ही पुरुष के यह परमआवश्यक कर्म होता है अर्थात् ज्ञातादृष्टा रहनेरूप अंत:क्रिया उसके ही प्रकट होती है।

**योगीश्वर का उत्तरोत्तर उन्नतपदनिवास**—यह योगीश्वर व्यवहारश्रद्धान,व्यवहारज्ञान,व्यवहारचारित्र के प्रसाद से इससे भी ऊँचे चलकर निश्चयश्रद्धान, निश्चयज्ञान और निश्चयचारित्र की पदवी में आया है और यह भी भेदोपचाररूप रत्नत्रय से उठकर एक अभेद अनुपचाररूप रत्नत्रय में आया है, ऐसे पावन श्रमण के यह महान् आनन्द का देने वाला निश्चयधर्मध्यान और निश्चयशुक्लध्यानरूप आवश्यककर्म होता है। यह ज्ञानाश्रयरूप पुरुषार्थ समस्त बाह्य क्रियाकाण्डों के आडम्बर से अतीत है नाना विकल्प कोलाहलों का प्रविपक्षभूत है। ऐसा उत्कृष्ट ज्ञान रखने वाला साधुपुरुष कैसा श्रद्धानी है कि जिनेन्द्रमार्ग से ही चल रहा है, अपने व्रत,तप क्रियावों में सहज सावधान बन रहा है, फिर भी इसकी दृष्टि इन समस्त क्रियाकाण्डों से पार होकर एक निज सहज ज्ञानस्वभाव में ही रमती है, ऐसे ही योगीश्वर के यह परमआवश्यक कर्म होता है।

**निश्चय परमावश्यक कार्य**—इस अधिकार में निश्चय से उत्कृष्ट काम क्या है, उसका वर्णन किया जा रहा है। आवश्यक का अर्थ अन्य भाषा के अनुवाद में ''जरूरी'' कहा गया है, पर जरूरी अर्थ तो फलित अर्थ है, व्युत्पत्तिक अर्थ नहीं है। आवश्यक शब्द में मूल में तो 'अ' और 'वश' ये दो शब्द हैं। जो किसी भी परतत्त्व के वश में नहीं है ऐसे पुरुष को अवश कहते हैं। उसके प्रवर्तन को आवश्यक कहते हैं अर्थात् आत्मकल्याण

के लिए जो अंत: शुद्ध पुरुषार्थ चलता है वह है आवश्यक काम। यह ही है कल्याणार्थी पुरुष का जरूरी काम। बाकी सब काम अनावश्यक है।

**मोहनिद्रा के स्वप्न का एक दृष्टान्त**—जिन्हें लोग अधिकाधिक चाहते हैं, धन,सम्पदा,परिजन,मित्रजन,यश,प्रतिष्ठा ये सब अनावश्यक चीजें हैं। ये सब मोहनिद्रा में देखे गये स्वप्न हैं। जैसे नींद में किसी को खराब स्वप्न आ जाय, जंगल में फंस गये हैं, सिंह सामने आ गया है, वह हमला करना चाहता है, ऐसा स्वप्न दिखे तो वह पुरुष कितना घबराता है, कितना कष्ट पाता है? पड़ा हुआ है वह अपने घर के सजावट वाले कमरे में, सोया हुआ है वह कोमल गलीचों पर,वहाँ न सिंह है, न जंगल है, किन्तु स्वप्न में कल्पना आ गयी जंगल की और भयानक सिंह की, सो उसके बड़ी तीव्र वेदना चल रही है। उसकी नींद खुल जाय तो उसका सारा भय काफूर हो जाता है, सब भय नष्ट हो जाता है। उसे स्पष्ट यह प्रतीत होता है कि कहाँ है यहाँ सिंह, कहां है यहाँ जंगल, यह तो मैं अपने ही घर में स्वरक्षित बसा हुआ हूँ।

**मोहनिद्रा का स्वप्न**—ऐसे ही जिन्हें मोह की निद्रा आयी है उसे इस मोहनींद के स्वप्न में सब दृश्य दिख रहे हैं कि यह घर मेरा हैं, परिजन मेरे हैं, यह वेदना आयी है। धन कम हो गया है, यह बड़ा संकट है, ये लोग अनुकूल नहीं चलते हैं, आज्ञा नहीं मानते हैं। जिस जीव से पूछो, जिस मनुष्य से पूछो प्राय: वह अपना कोई न कोई दु:ख उपस्थित करता है, मुझे बड़ा क्लेश है। क्लेश की चर्चा सुनो तो वह यही कहेगा कि परवस्तु का यों परिणमन हो रहा है। अरे ! हो रहा है तो होने दो, परिणमन तो किसी का रुकता नहीं है, पर का जो परिणमन है चलने दो, उसमें उसकी कौनसी बाधा आती है लेकिन इस मोही जीव ने जो परवस्तुवों को अपना रक्खा है, उसके कारण क्लेश ही क्लेश हम पर गुजरता है। यह सब मोह की नींद का स्वप्न है। कभी गुरुप्रसाद से यह मोहनिद्रा भंग हो जाय और इस ज्ञाननेत्र से स्पष्ट तत्त्व अनुभव में आ जाय, ओह ! यह मैं आत्मा तो केवल ज्ञानानन्दस्वभावमात्र हूँ,इसके कहां मकान है, यह तो अमूर्त निज प्रदेशमात्र है, इसके कहाँ देह है, धन का कहाँ सम्बन्ध है? यह मैं तो अपने ही प्रदेशग्रह में स्वरक्षित बसा हुआ हूँ। इसे न कोई छेद सकता है, न कोई किसी शस्त्र से भेद सकता है, न आंधी तूफान इसे उड़ा सकती है, न अग्नि जला सकती है और न जल डुबो सकता है। यह आत्मा तो अमूर्त है, केवल ज्ञानानन्दपुंज है,इस पर कहाँ विपदा है? जब यह अपने ही घर में बसा हुआ अपने आपको स्वरक्षित पाता है तोये समस्त क्लेश उसके दूर हो जाते हैं।

**आत्मप्रतिष्ठापकों का जयवाद**—जो ज्ञानी पुरुष है वह जो कुछ अपने आपमें अपने आपकी प्रतिष्ठा के लिए,अपने आत्मा के उपयोग में प्रसिद्धि के लिए जो अंतरंग में ज्ञानपुरुषार्थ करता है वह है आवश्यक काम, बाकी जगत में मोही जीवों ने जिन-जिन कामों का नाम आवश्यक रक्खा है वे सब अनावश्यक हैं। जो मुनि स्ववश है, आत्मवश है वह ही श्रेष्ठ है, वह जयवंत हो।

**प्रमाद न होने देने की सावधानी**—यह स्नेहभाव थोड़ा भी तो जगे फिर यह बढ़-बढ़कर इसे फिसला देगा। जैसे किसी रपट वाली जगह में थोड़ा भी तो पैर फिसले फिर यह रपट कर गिर ही जाता है। कोई थोड़ा फिसलने पर अपने आपको सावधान कर ले तो आसान काम है, पर वहाँ प्रारम्भ में ही प्रमाद रहा, अपनी सुधबुध न रक्खी तो यह फिसलकर पूरा गिर पड़ता है, ऐसे ही जो ज्ञानी संत पुरुष हैं, कदाचित् उनके रागादिक भाव उमड़े भी तो वे तुरन्त सावधान होते हैं। जो अपने आपमें उठे हुए रागादिक विभावों से भी राग नहीं रखते हैं और उन्हें हटाये जाने की कामना करते हैं ऐसे पुरुष किसी परपदार्थ में कहां परतंत्र हो सकते हैं? वह तो अपने आपमें उठे हुए रागादिक विभावों से भी राग नहीं रखता है और उन्हें हटाये जाने की कामना करता है, ऐसा पुरुष किसी परपदार्थ में कैसे परतंत्र हो सकता है? वह तो अपने आपमें उठे हुए रागादिक कलुष

परिणाम के बन्धन में नहीं है। हो रहे हैं रागादिक,उनके यह ज्ञात हो रहा है, यह सब इस सहज ज्ञायकस्वरूप के अनुभव का प्रसाद है।

**अन्तर्वृत्ति की सार्थकता**—ज्ञायकतत्त्व का अनुभव तो न जगे और बाहर में ज्ञानीपुरुष जैसा इसका विधान करे तो उसका उत्थान नहीं हो पाता है। जो प्रकट समस्त मायाजालों को असार समझता है, जिसकी बाह्यवृत्ति भी उदारता का अनुमापक बन रही है, ऐसे पुरुष को अंतरंग में ज्ञान का आलम्बन हुआ है ऐसा अनुमान होता है। मोह में तो फर्क न डाले, ममता में तो अन्तर न करे, इन्द्रिय के विषयों की अधीनता वैसी ही बनाये रहे, कुछ बोलनेचालने की कला पाकर विषयों में और अधिक फंस जाये, ऐसे पुरुष के न ज्ञानदृष्टि है और न इस आवश्यक कर्म की झलक भी है।

**व्यवहारवृत्ति और अंत:पुरुषार्थ**—हमें बहुत सावधान होकर चलना है; मोहममता पर विजय पाकर ज्ञानार्जन के लिए अपना ध्यान बढ़ाना है और इस गृहस्थावस्था में जो आचार्यदेवों ने षट्कर्म बताये हैं उन क्रियावों में भी रहते हुए हमें अपना अंत:पुरुषार्थ जगाना है। यह स्थिति ऐसी नहीं है कि इस गृहस्थ के षट् आवश्यक कर्मों को तिलांजलि देकर हम अपने में उन्नति बना सकें। जो व्यवहारधर्म के कर्तव्य हैं वे सब कुछ करके भी हमें शुद्ध दृष्टि जगाना है।

**श्रमणश्रेष्ठ का जयवाद**—जो श्रमण भेदविज्ञान के बल से समस्त परभावों से हटकर एक निज अभेद ज्ञायकस्वरूप में उपयोगी होता है उसके ही निश्चय परमआवश्यक है और ऐसे परमपुरुषार्थ में उद्यमी श्रमण, श्रमणों में श्रेष्ठ कहा गया है। इस श्रमणश्रेष्ठ के उत्तम उदार बुद्धि है। जगत के समस्त जीवों में एक स्वरूपदृष्टि करके समानता दृष्ट हुई है। भव का कारण तो इस ज्ञायकस्वरूप का अपरिचय था। अब निज आत्मतत्त्व का परिचय होने से संसार में रुलाने का कोई कारण नहीं रहा और इसी कारण भवभव के बाँधे हुए कर्म इसके नष्ट हुए जा रहे हैं। अब यह बहुत ही शीघ्र ज्ञायकस्वरूप सदा आनन्दमय मुक्ति को प्राप्त करेगा। इसमें परमविवेक प्रकट हुआ है। ऐसे विवेकी मुनिश्रेष्ठ सदा जयवंत रहो, जिनके सत्संग से, जिनकी सेवा से पाप नष्ट होते हैं।

**गुरुवचनपालन का सौभाग्य**—स्ववश अध्यात्मयोगी गुरुजनों के वचन अलौकिक सम्पदा के कारण होते हैं। वे भाग्यहीन पुरुष हैं अथवा उनका होनहार अच्छा नहीं है जिनको गुरु के वचन रुचते नहीं हैं। जिन गुरुवों ने कामदेव को ध्वस्त कर दिया है, जो निरन्तर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप और आत्मशक्ति के आचार में निरन्तर वर्त रहे हैं, जिन्होंने इस आत्मदृष्टि के पुन: पुन: आलम्बन और अभ्यास के द्वारा अनुपम आनन्द का अनुभव किया है ऐसे गुरुजन निष्पक्ष,निर्दोष,रागविरोधरहित वर्तते हैं। उनकी मुमुक्षुजन भक्तिपूर्वक उपासना करते हैं। जो लोग दुष्ट प्रवृत्ति के होते हैं जिन्हें गुरुदर्शन व गुरुवचन नहीं सुहाते हैं वे हीनभाग्य हैं, उन्हें संसार में रुलना अभी शेष है। जो भक्तजन गुरुजनों के वचनों को सिर पर धारण करते हैं और बड़े विनय सहित उन वचनों का पालन करते हैं वे निकट काल में ही मुक्तिसम्पदा को प्राप्त करेंगे। यह रागद्वेष के विजय का मार्ग मुक्ति का कारण है।

**सम्यक् दर्शन में एकत्व का आश्रय**—भैया ! इस जीव को अंत में अपने आपमें अकेले में ही रमण करना होगा तब इसे शान्ति मिलेगी। इस अलौकिक शान्ति का जिसने लक्ष्य बनाया है वह इस एक को ही चाहता है। एक ही है अन्त याने धर्म अथवा स्वभाव जिसका, ऐसा यह एकान्त आत्मा यही जिसका अभीष्ट है, प्रिय है, उसे जनसमुदाय से क्या प्रयोजन है? निर्वाण उसके ही प्रकट होता है जो अपने आपको सबसे न्यारा

केवल ज्ञायकस्वरूप ही प्रतीत करता है और उसमें ही लगने का उद्यम करता है। सम्यग्दर्शन होने पर सब समस्त सम्यग्दृष्टियों का मूल में इस एक ही के आलम्बन से पुरुषार्थ रहता है। परिस्थितियां जुदी-जुदी होने से भले ही कोई किसी वातावरण में है तो वह उतने की उपेक्षा करता है। किसी के चारित्र का विकास हुआ है तो वह कम संग में है, वह उस संग से उपेक्षा करता है, पर अन्य वस्तुवों से उपेक्षा करने का माद्दा समस्त सम्यग्दृष्टियों में स्वरसत: उत्पन्न होता है। मुनिजन केवलज्ञान, शौच और संयम के उपकरण के संग में हैं अथवा एक धर्मचर्चा के साधनभूत शिष्यजनों के, गुरुजनों के, सधर्मीजनों के संग में हैं, फिर भी वे इस समस्त संग में उपेक्षित रहते हैं। गृहस्थ लाखोंकरोड़ों की सम्पदा के वातावरण में हैं और वह उस समस्त सम्पदा से उपेक्षित रहता है। सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होने पर यह परम उपेक्षा परिणाम स्वभावत: उत्पन्न हो जाता है। यह जैनेन्द्रमार्ग अर्थात् रागद्वेष पर जिसने विजय की है ऐसे योगियों के द्वारा बताया हुआ यह साधुमार्ग निर्वाण सम्पदा का कारण है। इसको प्राप्त करके ही पुरुष निर्वाण को प्राप्त होता है। ऐसे परमआत्मावों को हमारा बारम्बार नमस्कार हो।

**योगिभक्ति**—हे योगिराज ! तुम्हारी पवित्रता को निरखकर अब लोक में अन्यत्र कहीं मन नहीं लगता है। रागद्वेष,मोह,कषायवान पुरुषों के संग में रहने में ज्ञानी पुरुषों का चित्त नहीं चाहता है। ये योगीजन स्ववश हैं, इनका आत्मा अडिग है। ये किसी भी विषय आदिक परतत्त्वों में बंधन मानने वाले नहीं हैं। ऐसे योगी सुभटों में भी जो श्रेष्ठ हैं, जिनके अब कनक और कामिनी की स्पृहा नहीं रही है, जो केवल इस शुद्ध ज्ञानप्रकाशरूप ही निरन्तर वर्तना चाहते हैं ऐसे हे योगिराज ! तुम ही हमारे लिए शरणभूत हो। भक्तजन उन योगियों के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित कर रहे हैं।

**शरणभूत योगिराज**—गृहस्थजन उन योगियों के इस वीतरागतागुण को निरखकर, आनन्दमग्न होकर अपने आपको सौंप रहे हैं। हम लोग विषयरूप, कायरूप, कषायरूप शिकारी के बाणों से छिदे हुए हैं, निरन्तर वेदना से आर्त हैं, ऐसे हम लोगों को शरण हे योगिराज ! आप ही हो। इस लोक में एक यह विषय कषाय की वेदना ही विपदा है, अन्य कुछ विपदा नहीं है। सम्पदा कम हो गयी तो यह कौनसी विपदा है, किसी दिन तो सारा ही छोड़कर जाना है, फिर उसके कुछ कम होने का यहाँ क्या खेद करना? यदि कुछ थोड़ा बहुत कम हो रहा है तो कोई विपदा नहीं है। विपदा तो यह है कि सम्पदा कम होते देखकर उसके प्रति विकल्प बनाते हैं। ये विकल्प ही विपदा हैं। हे योगिराज ! आप बाह्य परिग्रहों से विरक्त हुए हैं और अंतरंग में भी किसी प्रकार की वाञ्छा न होने से परिग्रह से पूर्ण विरक्त हैं, आपकी शान्ति, आपका संतोष आपके ब्रह्म की मग्नता—ये अलौकिक वैभव हैं। इस मायामयी जगजालों में रुलने को अब जी नहीं चाहता है। किससे बोलना, किसमें रमना, ऐसे ही तो सब हैं। हे नाथ ! हे योगिराज ! हमारे तो तुम ही शरण हो।

**अन्तस्तत्त्व की झांकी का सन्तोष**—कुछ मुनिजन जो बाह्यक्रियाकाण्डों का निर्दोष पालन कर रहे हैं, जो 28 मूल गुणों का निरतिचार पालन कर रहे हैं, बहुत काल तक व्रत और दुर्धर तप की साधना करने पर भी जिन्हें संतोष नहीं मिला है, एक ब्रह्मस्वरूप के परिचय बिना जो इधरउधर आत्मा के अन्दर ही उपयोग को भ्रमा रहे हैं ऐसे साधुजन जब परमआवश्यक के अधिकारी परमनिष्पृह योगिराजों के अंत:मर्म पर दृष्टि देते हैं और जब कदाचित् इन श्रमणों के भी ज्ञानप्रकाश जगता है तो वे आनन्दमग्न होकर यह कह बैठते हैं—ओह ! इस अनशन आदिक दुर्धर तपश्चरण से क्या फल है? वे अपनी ही तपस्या के प्रति कह रहे हैं, जनरल नहीं कह रहे हैं। तपश्चरण भी एक कर्तव्य है, किन्तु स्वयं को संतोष न होने पर और अब संतोष का मूल कारण जो स्वरूपपरिचय है उसके निकट आने पर स्वरूपभक्ति में मग्न होकर कह बैठते हैं कि इन दुर्धर तपश्चरण

का फल केवल शरीर का शोषण है, अन्य कुछ नहीं है। ओहो ! मेरा जन्म तो सफल हुआ। हे योगिराज ! हे वीतराग संयमी पुरुषों ! हे वीतराग ज्ञानमय साधु ! तुम्हारे चरणकमल का जब मैंने ध्यान लगाया, तुम्हारे अंतरंग ज्ञानदर्शन पादों का जब मैंने मर्म जान पाया तब समझा कि मेरा जन्म सफल है।

**योगभक्ति**—हे स्ववश योगिराज ! तुम्हारा स्वरूप जिसके हृदय में विराजता है वह पुरुष धन्य है। संसार के संकटों से वह शीघ्र ही पार होगा। यह सब है योगभक्ति। योग का अर्थ है इस निर्दोष आत्मस्वरूप में अपने उपयोग को जोड़ देना। धन्य है वह पुरुष जिसका उपयोग इस शुद्ध आत्मतत्त्व में जुड़ने लगता है और जुड़ जाता है। वह पुरुष जयवंत हो, जिसके यह सहज तेज प्रकट हुआ है, जिसका उपयोग इस सहज तेज में ही मग्न हो गया है, जो केवल इस लोक का ज्ञाताद्रष्टा ही रहता है, अपने से भिन्न किसी भी अणु की अणुमात्र भी जिसके स्पृहा नहीं होती है। इन्होंने अपने इस ज्ञानरस के विस्तार द्वारा पापों को धो डाला है। पाप है मोह, पाप है राग और द्वेष। जिसने इस मोहादिक कलंकों को निर्मूल नष्ट किया है ऐसा योगराज इस लोक में जयवंत प्रवर्ते तो जगत का भी कल्याण है।

**स्ववशता और समता का जयवाद**—ये संत पुरुष समतारस से भरपूर हैं। इनके सद्वचन पुरुषों के हित के ही करने वाले हैं। इनके वचन पवित्र हैं। इन योगिराजों के चित्त में किसी भी जीव के प्रति रंच भी द्वेष नहीं है, और द्वेष तो होंगे ही क्या? किसी भी जीव के प्रति रंच राग भी नहीं है। कैसा यह निर्मल योगी पुरुष है, कदाचित् इसे करुणावश उपदेश भी करना पड़ता है, फिर भी रागद्वेष भाव से रहित निर्मल निज ज्ञायकस्वरूप का भान कर लेने से यह राग और द्वेष से रहित निर्मल ही बने रहते हैं। ऐसे योगियों की पूजा करने में हमारी कहां सामर्थ्य है? वास्तविक पूजा तो उन जैसा आचरण करने में ही बन सकेगी। ये मुनिराज सदा स्ववश हैं, इनका मन आत्म में ही जुड़ रहा है। अज्ञानीजन ही मन के वशीभूत होते हैं, कर्तव्य अकर्तव्य का कुछ भी ज्ञान नहीं कर पाते हैं और कल्पनावश जिसे हितकारी,सुखकारी माना उसकी ओर बढ़ जाते हैं। किन्तु इन योगिराजों का मन शुद्ध तुला है। जैसे बालभर भी वजन शुद्ध तुला में छुपता नहीं है ऐसे ही ये परम विवेक के तराजू रूप मन वाले योगी संत हैं, ये शुद्ध हैं, सहज सिद्ध हैं, अपने आपके स्वरूप से ही जो निरन्तर पुष्ट हैं, ऐसे योगिराज सदा जयवंत हों, ऐसा मेरे उपयोग में उनके गुण समाये रहें। जिससे यह मैं भी निष्पाप रहा करूँ और अपने शुद्धस्वरूप के अभ्युदय से अपने को कृतार्थ करूँ।

**योगिराजों की जिनराज की निकटता**—ओह ! ये योगिराज और 4 घातियाकर्मों को नष्ट करने वाले समस्त लोकों के जाननहार ये जिनराज,ये दोनों मेरे सामने रहो और जो ऊपरी अन्तर है, योगिराजों के केवलज्ञान नहीं हुआ अथवा यह देह साधारण औदारिक है, वह देह परमनिर्दोष औदारिक है, इन सब परिणतियों की दृष्टि का भेद मत आये। ये योगिराज भी एक जिनराज ही हैं, इनसे मेरे में भेद करने वाली दृष्टि मत जगो। यह बात भक्त की निकल रही है अन्तर्मर्म के स्पर्श में। मुझे भेद से क्या प्रयोजन है? जो अपना काम चाहते हैं, मोक्ष का मार्ग चाहते हैं उनकी दृष्टि से यह कहा जा रहा है। जो जड़ है अर्थात् इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप को अपनी रुचि में न लेने के कारणबाहरी दृष्टियों में अपना विस्तार बनाते हैं इसलिए उनके इसमें भेद आता है कि कैसे भेद नहीं है इनमें? ये अरहंत हैं, ये साधु हैं, ये घातिया कर्मों से दूर हैं, परमात्मा हैं, और अभी ये महात्मा हैं। ठीक है, भेद है, इसका मना नहीं किया जा रहा है, किन्तु जिन्हें गुणों में रुचि जगी है और गुण विकास में उत्सुकता जगी है वे इन स्ववश योगियों की अन्तर्दृष्टि की पहिचान कर उन योगिराजों की भक्ति में निरत यह योगी योगभक्ति कर रहा है।

**अन्तस्तत्त्वप्रकाश**—यह स्ववश महामुनि ही एक धन्य हैं। यह शरीर मुनि नहीं है, किन्तु यह ज्ञानपुञ्ज वह ज्ञाताद्रष्टा रहने वाला आत्मा मुनि है। यहाँ मुनि को निरखा जा रहा है, देह को नहीं निरखा जा रहा है, फिर व्यवहार से देह को भी यदि निरखें तो इस देह देवालय में विराजमान जो यह महात्मा है, देव है,इसमें जो विशुद्धि जगी है, यह विशुद्धि फूटकर निकलकर इस देह में मुखमुद्रा पर,शरीरमुद्रा पर झलक उठी है और अब यह देह भी पवित्र हो गया है। रत्नत्रयधारी आत्मा के संवास के कारण इन साधुराज का देह भी पवित्र है। इस जन्म में ऐसा तो महामुनित्व है वह श्रेष्ठ है और धन्य है। जो समस्त कर्मों से बाहर ही ठहरता है, अन्तस्तत्त्व का रुचिया रहता है, जिसका उपयोग, जिसका ज्ञान एक इस शुद्ध ज्ञानप्रकाश को ग्रहण करता है, मन, वचन, काय की चेष्टा को ग्रहण नहीं करता है, केवल एक निज भाव को ग्रहण कर रहा है, ऐसा यह मुनि स्ववश है, अपने आत्मा के ही अधीन है। इसकी बुद्धि अब किसी अन्य तत्त्व में नहीं टिक रही है।

**आवश्यक और अनावश्यक के पात्र**—इस योगिराज ने समस्त परपदार्थों को अथवा परपदार्थों के गुणों को अथवा परपदार्थों के परिणमन को और परपदार्थों का आश्रय पाकर कार्माण द्रव्य का निमित्त पाकर उत्पन्न होने वाले परभावों को त्याग दिया है और इस परमत्याग के फल में उनका ध्यान निर्मल स्वभाव में लग गया है। जो पुरुष समस्त परभावों का परित्याग करके निज निर्मल स्वभाव का ध्यान करता है वह पुरुष ही आत्मवश होता है, और उसके आवश्यक कर्म होता है। जो पुरुष आत्मवश नहीं हैं, राग के विषयभूत परपदार्थों के अधीन हैं, उन परपदार्थों का संयोग न मिले तो खेदखिन्न रहते हैं उन परपदार्थों से ही अपना सुख मानते हैं, वे पुरुष अनावश्यक हैं और उनका कार्य भी अनावश्यक है।

**दुर्लभ अवसर के लाभ का अनुरोध**—इस लोक में अनादि से भ्रमण करते-करते आज श्रेष्ठ मनुष्यजन्म पाया, श्रेष्ठ कुल पाया, धर्म का संयोग पाया, इतना दुर्लभ समागम मिल जाने पर भी यदि इस निज ब्रह्मस्वरूप का आदर न किया और विषयकषाय,जगजाल,विषयसाधनों का आदर रक्खा तो वही गति होगी जो गति अब से पहिले होती चली आयी है। कल्याण कर सकने का श्रेष्ठ अवसर इस मनुष्यजन्म में मिला है। मोह को ढीला करें, ममता को ढीला करें, परिजन से उपेक्षा करें, देह से भी निराले अपने आत्मतत्त्व की सुध लें, इसमें ही वास्तविक कल्याण है।ऐसा कल्याण प्राप्त करने के लिए ही हमारा उद्यम रहे, इस बात को न भूलें।

## गाथा 147

आवासं जइ इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं।

तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स।।147।।

**आवश्यक के इच्छुक को आदेश**—हे साधक मुमुक्षु ! यदि तुम आवश्यक को चाहते हो तो आत्मा के स्वभाव में स्थिर भाव को करो। इस स्थिरता से ही जीव का सामायिक गुण सम्पूर्ण होता है। इस गाथा में शुद्ध निश्चय आवश्यक की प्राप्ति का उपाय बताया गया है। आवश्यक का अर्थ है स्वतंत्र होने के लिए किया जाने वाला अपूर्व पुरुषार्थ। इस परतंत्र जीव को परतंत्रता से हटकर स्वतंत्रता कैसे मिले? उस स्वतंत्रता की प्राप्ति का उपाय इस गाथा में कहा गया है।

**परमावश्यक में बाह्यक्रियाकाण्डों की पराङ्मुखता**-बाह्य में 6 आवश्यककर्म साधुजनों के होते हैं, जिनके नाम हैं—समता, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग। इनका नाम आवश्यक इसलिए रक्खा गया है कि इन कार्यों में व्यस्त होने वाले संतजनों में यह पात्रता रहती हे कि वे निश्चय परम आवश्यक पुरुषार्थ प्राप्त कर लें। वास्तव में आवश्यक नाम है शुद्धज्ञाताद्रष्टा रहनेरूप पुरुषार्थ का। उस पुरुषार्थ में जो हमारे क्रियाकलाप, पात्रता,लीनता हैं उसका नाम भी आवश्यक कर्म है। जो शिष्य बाह्य षट् आवश्यक के विस्ताररूप नदी के कोलाहल के शब्दों से पराङ्मुख है उस शिष्य को यह समझाया जा रहा है। जो बाह्य षट् आवश्यक में ही अपनी बुद्धि लगाता है, मन, वचन, काय की इन शुभ क्रियावों में ही जिसकी बुद्धि बसी है उसके यह परमआवश्यक कार्य नहीं होता है। जो इन षट् आवश्यक के कोलाहल से पराड्.मुख है ऐसे शिष्य को कहा जा रहा है कि हे शिष्य ! यह आवश्यक कर्म जो कि शुद्ध निश्चयधर्मध्यानरूप है और शुद्ध निश्चय शुक्लध्यान है, निज आत्मा के ही आश्रित है, ऐसे इन आवश्यककर्मों को यदि तुम चाहते हो तो अपने आत्मतत्त्व में स्थिर भाव को उत्पन्न करो।

**आनन्द के उपाय में एकमात्र पुरुषार्थ**—भैया ! इस जीव को आनन्द के लिए केवल एक ही काम करना है, अपने सहजस्वरूप को जानना और इस सहजस्वरूप अपनी प्रतीति करके इसके अनुरूप ही अपना आचरण रखना, इस ही का नाम है आवश्यक। यह आवश्यक पुरुषार्थ संसाररूप लता को नष्ट करने में कुठार की तरह है। जैसे कुठार लता को भेदकर छिन्नभिन्न कर देता है, इस ही प्रकार यह आवश्यक पुरुषार्थ संसार के संकटों को पूर्णतया छेद देने में समर्थ है।

**कल्पनाजाल का संकट**—संकट कल्पनाजाल का नाम है। कल्पनाजाल किसी परवस्तु को विषय बनाकर ही उत्पन्न हुआ करता है। परवस्तुवों को अपनाना, यह अज्ञान के कारण होता है। इस कारण संसार के संकटों का विनाश करना चाहो ही तो अज्ञान को मिटाना अपना प्रथम कर्तव्य है, लेकिन आप अन्याय करके धनसंचय करने वाले पुरुषों की गति भी निरखते जा रहे हैं। उनको इस लोक में कितना संकट उठाना पड़ता है और उनकी अंत में गति कैसी होती है, और परलोक में क्या होगा,उसका अनुमान भी यहाँ की करतूत से हो रहा है?इतने पर भी जड़ बाह्यवैभव की ओर इतना अनिष्ट झुकाव किए जा रहे हैं, यह कितनी बड़ी विपदा है इस मोही जीव पर? यह सब कल्पना की ही तो विपदा है। बाह्य पदार्थ तो जहाँ हैं वे वहाँ ही हैं। यह अपनी कल्पना को बढ़ाकर अपने आपको कष्टमय बना रहा है। हे शिष्य ! यदि तू संसार के संकटों का छिन्न कर देना चाहता है तो इस आत्मा के स्वरूप की आराधना में लग।

**निरञ्जन निर्विकल्प आत्मस्वभाव के उपयोग में आत्मविकास**—यह परमात्मभाव समस्त विकल्पजालों से विनिर्मुक्त है। इन रागद्वेष आदिक अंजनों का इसमें प्रवेश नहीं है। स्वभाव और निर्मल विकास इन दोनों का वर्णन एक ही प्रकार से होता है। जल का स्वभाव क्या है? जो निर्मल जल को देखते हो वही जल का स्वभाव है, चाहे कीचड़ मिला जल हो तिस पर भी जल में जल ही है और गंदगी में गंदगी है। जल का स्वभाव वही है जो एक निर्मल जल में होता है। हमारे आत्मा का स्वभाव क्या है? आत्मस्वभाव वही है जो निर्मल आत्मा परमात्मप्रभु जिस प्रकार वर्त रहे हैं, जो वहाँ ज्ञप्ति है वही मेरे आत्मा का स्वभाव है।इस स्वभाव का विकास इस स्वभाव को जाने बिना कैसे हो सकता है? जिसे यह निर्णय नहीं है कि मेरा आत्मा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र है,इसमें रागद्वेष आदिक अंजन नहीं लगे हैं,वर्तमान सांजन परिणमन होकर भी स्वभाव में मेरा आत्मा निरञ्जन है, ऐसा निर्णय हुए बिना कोई पुरुष शुद्ध विकास कैसे कर सकता है? हे शिष्य ! निरञ्जन इस निज परमात्म तत्त्व में तू निश्चल स्थिर भाव को कर।

**आत्मा को सहजज्ञान**—सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजआनन्द आदिक जो सहज शक्तियाँ हैं वे ही सब आत्मा के स्वभाव हैं। सहजज्ञान का अर्थ यह है कि जितने भी ज्ञान प्रकट हो रहे हैं वे पर्यायरूप ज्ञान हैं। प्रकट होकर दूसरे क्षण नहीं ठहरते हैं। जो ज्ञान मलिन संसारी जीवों के हो रहे है उनमें तो झट यह परिचय हो जाता है कि हां यह बात सही है कि यह ज्ञानपरिणमन अगले क्षण नहीं रहता है, किन्तु केवल ज्ञान जो निर्मल ज्ञान है उसके समय में यह कठिनाई से समझ में आता है कि केवलज्ञान भी क्या अगले क्षण में विलीन हो जाता है? शुद्ध ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से देखा जाय तो हम छद्मस्थों के ज्ञान तो परम्परा से अन्तर्मुहूर्त तक उपयोगरूप रहता है, किन्तु भगवान का ज्ञान तो इतना स्वतंत्र है कि अगले समय में भी नहीं रहता। अगले समय में दूसरा केवलज्ञान हो जाता है और प्रत्येक समय नवीन-नवीन केवलज्ञानपर्याय होती रहती है और अनन्त काल तक इसी प्रकार होता रहेगा।

**परिणमन की क्षणवर्तिता**—केवलज्ञान का विषय जो पहिले क्षण केवलज्ञान के है वही उतना दूसरे केवल ज्ञान में रहता है। इस कारण परवस्तु की अपेक्षा से ज्ञान का परिचय करने वाले जीवों को यह शंका रहती है कि केवलज्ञान का कैसे विलय हो सकता है? हम लोग किसी के ज्ञान का स्वरूप परवस्तु का नाम लेकर जान पाते हैं। यह चौकी का ज्ञान है, यह पुस्तक का ज्ञान है, यह अमुक चीज का ज्ञान है। अरे ! उन चीजों का नाम लेकर ही तो निरखा। वह अपने आपमें किस रूप परिणमता है? इसके बताने का इसका अन्य साधन नहीं है, यह पटक ज्ञान है। परवस्तु का ज्ञान मिट गया, इस कारण यह ज्ञान भी बदल गया, ऐसी बात नहीं है, किन्तु ज्ञान ही बदल गया तब उसका विषय भी अन्य हो गया। परवस्तु के कारण ज्ञान का परिणमन नहीं होता है किन्तु ज्ञान आत्मद्रव्यत्व के कारण निरन्तर परिणमता रहता है।

**क्षणवर्ती ज्ञान के परिणमनों के मूलमें सहजज्ञान का प्रकाश**—स्वभावगुणपर्याय का एकसापरिणमन होने पर भी शक्ति नवीन-नवीन लग रही है, इस कारण परिणमन भी नवीननवीन समझना। कोई बल्ब 8 बजे से 8 बजे तक निरन्तर जलता रहा है एकसा और उसमें पावर भी एकसा बहने के कारण रंच भी मंद या तेज नजर नहीं आया। उस समय कोई कहे कि यह बल्ब क्या कर रहा है? कुछ भी नहीं करता है। अरे !वह प्रतिक्षण नवीन-नवीन काम कर रहा है। प्रतिक्षण वह अपनी नवीन-नवीन शक्ति लगाकर परिणमन कर रहा है। यदि प्रतिक्षण वह बल्ब नवीन काम न करे तो बिजली वालों को घाटा हो जाय। वे जान जाते हैं कि अब इतने मीटर बिजली खर्च हुई है। तो एकसा काम होने पर भी शक्ति नई-नई लगती चली जा रही है। यों ही ये समस्त ज्ञान प्रतिक्षण नवीन-नवीन परिणमन करते चले जा रहे हैं। ये परिणमन ज्ञप्ति अपेक्षा भिन्नभिन्न हैं परन्तु एक तांता तोड़कर परिणमन क्या भिन्न-भिन्न है? जिस ज्ञानशक्ति पर यह परिणमनजाल चलता रहता है उस ज्ञानशक्ति का नाम है सहज ज्ञान। यह सहज ज्ञान शाश्वत है और यह विकाररूप ज्ञान अध्रुव है।आत्मा का स्वभाव यह अध्रुव ज्ञान परिणमन नहीं है किन्तु इन ज्ञानपरिणमनों का आधारभूत जो शाश्वत सहजज्ञान है वह है।

**क्षणवर्ती परिणमनों के मूल में सहजभाव का प्रकाश**—इस ही प्रकार दर्शन के परिणमन की आधारभूत जो शक्ति है वह सहजदर्शन है, चारित्र के परिणमन की आधारभूत जो सहज शक्ति है वह सहजचारित्र है। आनन्दगुण के परिणमन की आधारभूत जो एक शक्ति है उसका नाम सहज आनन्द है। इस स्वभाव में अपने उपयोग को लगा, अर्थात् इस सहजस्वभावरूप अपने को मानकर स्थिर हो जा। अब अन्यरूप कल्पना मत कर। अन्यरूप विकल्प मत कर तो तुझे वह निश्चय परम आवश्यक प्रकट हो जायेगा जिस परम आवश्यक गुण के प्रसाद से यह निश्चय समता का गुण प्रकट हुआ है।

**अभीष्ठप्रयोजन सिद्धि**—हे जीव ! तुझे चाहिए क्या? शुद्ध आनन्द ना। यह विशुद्ध आनन्द समतापरिणाम में ही मिलता है। जहाँ कोई रागद्वेष,पक्षपात का विकल्प चलता है वहाँ नियम से इसे कष्ट है, आकुलता है। जहाँ समतापरिणाम है वहाँ इसको आनन्द है। यह समतापरिणाम अपने आपके शाश्वत स्वभाव में इस उपयोग को स्थिर करने से प्रकट होता है। तुझे तो आनन्द चाहिए ना? उसका उपाय यह है कि समताभाव को स्थिर कर। जब समता प्रकट हो जाय, आनन्द प्रकट हो जाय तब फिर तुझे और क्या चीज चाहिए? ये बाह्य 6 आवश्यक क्रियाकाण्ड इनसे फिर क्या सिद्धि है? ये प्राक्पदवी के कार्य हैं। जब तक वह उत्कृष्ट अवस्था नहीं मिलती है उसके पा लेने पर फिर तुझे उन क्रियाकाण्डों से क्या प्रयोजन है, ये उपादेय नहीं हैं। एक दृष्टि इस परम आवश्यक की ओर लगा।

**निश्चयपरमावश्यक से ही कल्याणलाभ**—यह परम आवश्यक कार्य निष्क्रिय है अर्थात् हलनचलन, क्रियाकाण्ड, विकल्पजाल—इन सब दोषों से परे है। वह तो एक निश्चय आत्मस्वरूप में निर्मग्नता उत्पन्न करने वाला है। इस आवश्यककार्य से ही जीव के सामायिक चारित्र की निर्भरता होती है। यह आवश्यक कार्य सुगम रीति से मुक्ति के आनन्द को प्राप्त करा देने वाला है। हे आत्मन् ! यदि किसी प्रकार यह मन अपने स्वरूप से चलित होता हो,किसी बाह्य पदार्थ में हितबुद्धि करके सुख का विकल्प करके रह रहा हो तो समझो कि मैं संकटों की ओरजा रहा हूँ। जो तुझे रुचिकर हो रहे हैं ये बाह्यपदार्थ तेरी बरबादी के कारणभूत ही हैं। जिन कुटुम्बजनों से रागभाव हो रहा है, चित्त में सर्वथा वही समा रहे हैं;जिनके सामने देव,शास्त्र अथवा गुरु ये कुछ भी नहीं जंच रहे हैं,तन, मन, धन, वचन जो कुछ भी अपने वर्तमान परिकर हैं उनमें ही अपने को न्यौछावर किये जा रहे हैं, ये सब बाह्य वैभव ही तेरी बरबादी के कारण हैं। जिन जीवों में तेरा मोह नहीं है वे जीव तेरे लिए भले हैं। तेरे विनाश का कारण तो नहीं बन रहे हैं। विनाश के कारण तो कोई परजीव नहीं होते।स्वयं की कल्पना ही विनाश का कारण है।

**वैराग्य से आत्मा की संभाल**—हे सुखार्थी ! तेरा मन अपने स्वरूप से चलित होकर बाहर भटक रहा हो तो तेरे में सर्व अवगुणों का प्रसंग आ गया है। अब तू अपने आपमें मग्न रहने का यत्न कर। इन परपदार्थों से तू वैराग्य धारण कर। कुछ सार न मिलेगा राग करके। राग हो रहा हो तो कम से कम उसे त्रुटि तो जान लो। अपराध भी करें और अपराध को अपराध भी न मान सकें तब फिर उसको कहीं पंथ न मिलेगा। तू संविद् चित्त वाला बन अथवा विषयप्रसंगों का खेद मान।'गले पड़े बजाय सरे' जैसी दृष्टि तो बना, मग्न तो मत हो जा। तू परद्रव्यों से उपेक्षाभाव करता रहेगा तो तू कभी मोक्षरूप स्थायी आनन्दधाम का अधिपति बन जायेगा और इन बाह्य पदार्थों में राग करता रहेगा तो तू इन बाह्य पदार्थों के व्यामोह में भटकता ही रहेगा। न जाने किन-किन कुयोनियों में जन्ममरण करता रहेगा?

**अपनी संभाल से संकट का विनाश**—हे मुमुक्षु आत्मन् ! अपने चित्त को संभाल, इस लोक में अन्य कोई शरण नहीं है। सब जीव अपना-अपना परिणमन और प्रयोजन ही किया करते हैं, दूसरे का न कोई चाहने वाला है, न कोई पालनहार है। समस्त पदार्थ अपने स्वरूपसत्त्व के कारण स्वयं स्वरक्षित हैं और अपनीअपनी योग्यतानुसार योग्य उपाधि का निमित्त पाकर अपना ही परिणमन किए चले जा रहे हैं। अपने आपकी संभाल कर। मन, वचन,काय की क्रियावों के आडम्बरों में निजबुद्धि मत कर। यदि इस प्रकार नियत चारित्र बना लेगा अर्थात् आत्मा का जैसा स्वरूप है शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र उसमें रमेगा, शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहने का यत्न करेगा, रागद्वेष पक्ष,इनको न अपनायेगा तो संसार के दु:ख अवश्य दूर होंगे।

**दोष के यत्न से दोष के मिटने का अभाव**—ये दु:ख,दु:ख को अपनाने से दूर न होंगे। खून का लगा हुआ दाग खून के धोने से नहीं मिटता है। वह तो यों दाग बढ़ता ही चला जायेगा। इस प्रकार मोहरागद्वेष की कल्पना से उत्पन्न हुआ यह क्लेश मोहरागद्वेष करने से न मिटेगा। दूसरे जीव के प्रति कोई द्वेष जग गया है तो द्वेष करने से यह द्वेष न मिटेगा। ऐसे ही किसी जीव के प्रति रागभाव होता है और उस राग के कारण क्लेश पाते चले जा रहे हैं तो यह क्लेश राग करने से न मिटेगा, ऐसे ही मोहजन्य विपदा मोह करने से दूर न होगी, किन्तु इन रागद्वेषमोहभावों का प्रतिपक्षी जो आत्मा का शुद्ध ज्ञानप्रकाश है, इस ज्ञानप्रकाश के द्वारा ही यह समस्त क्लेशजाल मिटेगा। तू अपनी ओरआ। यह चारित्र, यह आत्मरमण, यह आत्मसंतोष, यह आत्ममग्नता नियम से सातिशय सुख का कारण होगा।

**केवल के आलम्बन से कैवल्यलाभ**—भैया ! मोक्ष इस ही को तो कहते हैं कि केवल रह जाना। कर्मों का बन्धन टूटना, भावकर्मों का बन्धन छूटना और शरीर का वियोग हो जाना। केवल यह आत्मा स्वयं जिस स्वरूप वाला है उतना ही मात्र रह जाय इस ही का नाम मोक्ष है। यदि ऐसा मोक्ष पाना चाहते हो, इस मोक्ष के निरन्तर वर्त रहे शुद्ध आनन्द को यदि प्राप्त करना चाहते हो तो अपने कैवल्यस्वरूप का अनुभव करो। अपने आपको केवल जानो। केवल जाने माने बिना कैवल्य मिलेगा कहाँ? अब इन बाह्य विकल्पजालों में आत्मबुद्धि न रखकर एक इस शुद्ध ज्ञानप्रकाश में अपना स्वरूप स्वीकार करें। इस शुद्ध दृष्टि के प्रताप से तू नियम से निर्वाण का आनन्द पायेगा। ऐसी शुद्ध दृष्टि होना अथवा ज्ञाताद्रष्टा रहना यही है परम आवश्यक कार्य। इस कार्य के लिए तू अपने स्वरूप का ज्ञान कर, यत्न कर और इसही में रमण कर।

## गाथा 148

आवासयेण हीणो पब्भट्टो होदि चरणदो समणो।

पुव्वुत्तकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा।।148।।

**शुद्धोपयोग की अभिमुखता की शिक्षा**—जो श्रमण आवश्यक कार्य से रहित होता है वह चारित्र से भ्रष्ट कहा गया है। इस कारण जो पहिले क्रम बताया है उस पद्धति से आवश्यक कर्म को अवश्य ही करना चाहिए। इस गाथा में साधुवों को शुद्धोपयोग के अभिमुख होने के लिए शिक्षा दी गई है।

**व्यवहार से भी चारित्रभ्रष्टता का रूप**—जो साधु व्यवहारनय के आवश्यक कर्मों को भी नहीं कर पाता है, उसमें भी त्रुटि रखता है, उससे रहित होता है वह तो व्यवहार से भी चारित्रभ्रष्ट है। जो अपने इन्द्रियविषयों के पोषण में हों, खानेपीने के स्वाद में ही संतुष्ट रहा करते हैं और कुछ लोगों से मिलजुलकर एक यश कीर्ति प्रशंसा की बात सुनकर तृप्त रहा करते हैं वे भ्रष्ट साधु हैं। वे भली प्रकार से जो व्यवहार षट् आवश्यक बताये है,उन्हें भी नहीं कर सकते हैं। व्यवहार के 6 आवश्यक ये हैं—समता, वंदना, स्तुति, प्रत्याख्यान, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग।

**समतानामक आवश्यककर्म से भ्रष्टता**-समता नाम है रागद्वेष न करना। ऐसे जीव जो विषयलोलुपी हैं,अपने यशकीर्ति के उद्देश्य से और अपना जीवन मौज में व्यतीत हो, इतने मात्र से जिन्होंने साधु भेष रखा है वे तो साधु रागद्वेष के वशीभूत स्वयं है, उनके कहां चारित्र रह सकता है? जो साधुभेष रखकर अपने आपको

दोषमय बनाता है वह पतित पुरुष है। गृहस्थजन तो गृहस्थी में रहते हैं, उनके कलंक कलुषताएँ लगती रहती हैं, फिर भी गृहस्थ को ऊपर उठने की मन में इच्छा बनी रहती है, सो वे अपने पद से भ्रष्ट नहीं कहे जाते, किन्तु जो साधुपद ग्रहण करके अपने कर्तव्य से च्युत रहता है वह तो पतन की ओर ही जा रहा है। जो साधु चारित्र से गिर गया है वह पतित है और जो साधु चाहे बाह्य चारित्र को भी पाल रहा हो, लेकिन श्रद्धा से गिरा है, अपने आचार्यजनों पर श्रद्धा नहीं है, वहाँ त्रुटियां ही त्रुटियां निरखता है, कल्पना करकरके उनकी रचनावों को झूठी साबित करता है और उनको बदलबदलकर उसी रचना के नाम से प्रचार करता है वह तो महापतित है। जो चारित्र से भ्रष्ट हुआ है वह तो अपने लिए ही भ्रष्ट हुआ है किन्तु जो आचार्य की कृतियों को झूठी कहकर हम उनकी गलती सुधारने के लिये पैदा हुए हैं, यों मान करके नये-नये ग्रन्थ बनाकर जगत में प्रचार करता हो तो वह जगत के लोगों का भी अकल्याण करता है। उसके व्यवहार आवश्यक ही कहां रहा है?

**भ्रष्ट श्रमण से जनता का अलाभ**—व्यवहार आवश्यक में प्रथम आवश्यक है समतापरिणाम रखना, रागद्वेष न करना। जिसे अपने शरीर में भी परिग्रहबुद्धि नहीं है वह बाह्यपरिग्रहों का क्या लाभ करेगा? जो समता से च्युत है वह चारित्र से भ्रष्ट है। साधुजन लोकों के मार्गदर्शन के लिए आदर्शरूप होते हैं। जनसमूह साधुवों की चर्या, साधुवों की निष्ठा, साधुवों का उपदेश पाकर अपना कल्याण करते हैं। साधुजन इसी कारण वंदनीय हैं कि जनसमूह उनसे अपनी उन्नति का मार्ग पाते हैं। जो स्वयं ही समता से च्युत हो, रागद्वेष पक्षों से जो स्वयं ही भरा हुआ है वह तो अपने कल्याण से भी भ्रष्ट है। साधुपद में ज्ञान,ध्यान और तपस्या—ये तीन मुख्य कर्तव्य बताये गये हैं, इनकी ओर तो दृष्टि भी न हो व जो अन्य कुछ विडम्बनाएँ पेश करके समाज में फूट डाले अथवा अपने आत्मकल्याण की ही दृष्टि न रख सके, न आत्मकल्याण का अवसर पा सके, मौजों में ही अपना समय गुजारे, वह चारित्र से भ्रष्ट है।

**वंदनानामक आवश्यककर्म से च्युत होने में चारित्रभ्रष्टता**—द्वितीय आवश्यक है वंदना। विषयलोलुप, कीर्तिलोलुप साधु किसी अन्य आत्मा को, देव को अथवा गुरु को महान् नहीं मान सकता है। वह तो अपने ही गर्व में फूला रहता है, वह चारित्र से भ्रष्ट है। अपने देव,शास्त्र,गुरु में अपना तन,मन,धन न्यौछावर कर देना, यह उनसे ही बन सकता है जिनका होनहार अच्छा है। यह सारा जगत असार और अहित रूप है। यहाँ जो कुछ भी समागम मिला है वह अभिमान के योग्य नहीं है। किस पर अभिमान करना? कौनसी वस्तु सारभूत है? ये बाह्य जड़ सम्पदा तो प्रकट भिन्न हैं, छूट जाने वाले हैं। ये सब मायारूप हैं, थोड़े समय में ही छूट जाने वाले हैं। जैसे नाटक में भेष धारण करते हैं पात्र,थोड़ी-थोड़ी देर में अपना भेष बदलते हैं,ऐसे ही संसार के सभी जीव भेष बदलते रहते हैं। हम आप आज मनुष्य भेष में हैं, कुछ समय बाद उस भेष को छोड़कर नया भेष रक्खेंगे। ये सब मायारूप हैं, इन पर क्या इतराना?

**विनेयता में ही लाभ**—भैया ! आपने ज्ञान भी क्या पाया है? केवलज्ञान के समक्ष तो गणधरों का भी ज्ञान न कुछ है और उन गणेशों के ज्ञान के सामने तो अन्य विद्वान् साधुवों का भी ज्ञान न कुछ है। जहाँ द्वादशांग का निरूपण किया गया है उसे जब सुनते हैं, जब विचारते हैं तो ऐसा लगता है कि आज कोई अनेक भाषावों का भी विद्वान् हो जाय, अनेक ग्रन्थों का, विषयों का विद्वान् हो जाय तो भी वह ज्ञान द्वादशांगसमुद्र में बूँद बराबर है। यह तो श्रुतज्ञान की ही बात कही जा रही है। कौनसा ज्ञान ऐसा पाया है जो गर्व करने के लायक हो? जो अपनी कला पर गर्व करते हैं उन्हें अपने आपकी सुध नहीं है। गर्व करने से कहीं उन्नति नहीं होती है, वह तो अमनोज्ञ हो जाता है, लोक में प्रिय नहीं रहता है। अपने में अधिक से अधिक नम्रता बतावो, अपने

को न कुछ समझो और न दर्शावो। और कुछ समझो तो सबसे महान् स्वभावरूप में अपने को समझो। केवल पायी हुई परिणति के कारण अपने को महान् मत समझो। ये तो मिट जाने वाले तत्त्व हैं। जिनमें नम्रता होगी वही वंदना कर सकता है। वंदना करने में अनेक पापों का क्षय हो जाता है।

**स्तुतिभ्रष्टता में चारित्रभ्रष्टता**-प्रभु की स्तुति वह पुरुष क्या करे जो स्वयं अपनी स्तुति का अभिलाषी बना हुआ है। जिसे अपने ही वर्तमान भेष पर नखरा हो रहा है वह साधु व्यवहार से भी चारित्र से भ्रष्ट है, वह स्तुति नहीं कर सकता। जिसमें पवित्रता हो, नम्रता हो, गुणों की दृष्टि हो, गुणग्राहिता का स्वभाव हो, वही साधु स्तुति कर सकता है। जो व्यवहार स्तुति से भी भ्रष्ट है वह व्यवहार से भी चारित्र से भ्रष्ट है।

**प्रतिक्रमणभ्रष्टता में चारित्रभ्रष्टता**—प्रतिक्रमण अथवा प्रत्याख्यान—परवस्तुवों का त्याग है। एक शुचि,संयम,ज्ञान के उपकरण के सिवाय अन्य किसी उपकरण को न रखना, हिंसासाधक खटपट साथ में न रखना और अपने भाव में भी त्यागपरिणाम बनाये रहना, यह है प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान। जो इस त्याग से भी पतित हो गया है, लोकरंजना के अर्थ अथवा अपनी महत्ता जाने के अर्थ नाना आडम्बर साथ रखे हो, नाना संग हो तो वह साधु व्यवहारचारित्र से भी भ्रष्ट है।

**स्वाध्यायभ्रष्टता**—स्वाध्याय भी बहुत आवश्यक कार्य है। जो इतनी झंझटों में पड गया हो कि स्वाध्याय न कर सके, उसके लिए अवकाश ही नहीं है, वह केवल बाह्य जगजाल प्रपंच में ही अपना समय बिता रहा है, ऐसा साधु व्यवहारचारित्र से भी भ्रष्ट है।

**कायोत्सर्गभ्रष्टता में चारित्रभ्रष्टता**—कहां तो यह कर्तव्य बताया है कि शरीर तक के भी ममत्व न रक्खो। यही है कायोत्सर्ग नाम का आवश्यक कर्म। शरीर की तो बात जाने दो, उसका तो राग बना ही हुआ है, अपना घरपरिवार छोड़कर जनता में एक अपनी पार्टी का परिवार बनाए और उनको राग का विषय बनाकर अपना मौज माने,ऐसा साधु व्यवहार से भी चारित्र से भ्रष्ट है। यह बात इसलिए कही जा रही है कि आत्मा की उन्नति की कामना यदि है तो हमें परमावश्यक पुरुषार्थ का सुपरिचय होना चाहिये। करने योग्य वास्तविक क्या काम है, इसका जब तक परिचय न आये तब तक उन्नति नहीं कर सकते हैं। निश्चय से तो निर्विकल्प समाधिभावरूप वर्तना ही परमआवश्यक काम है, अन्य कुछ आवश्यक नहीं है। शेष सब अनावश्यक हैं। जैसे किसी को कोई मकान बनवाना है तो उस प्रसंग में सीमेन्ट, नौकर, परमिट आदि के अनेक प्रसंग करने होते हैं, पर उद्देश्य केवल एक है कि मकान बनवाना है। तो उसका मूल उद्देश्य एक है और शेष है मूलसाधक उद्देश्य। यों ही साधुसंत जनों का मूल उद्देश्य एक निश्चय परम आवश्यक भाव है, इस भाव की साधना के लिए व्यवहार में समता आदिक 6 आवश्यक बताये गए हैं।

**निश्चयचारित्रभ्रष्टता**—भैया ! व्यवहार चारित्र में रहकर व्यवहार चारित्र से अतीत निश्चय चारित्र की दृष्टि हो तो वहाँ मोक्षमार्ग चलता है। जैसे जो व्यवहार के षट् आवश्यक से परिहीन है उसे व्यवहार से भी चारित्रभ्रष्ट कहा है। ऐसे ही जो साधु निश्चय से निर्विकल्प समाधिभाव में रहनेरूप, शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहनेरूप, रागद्वेष न करके केवल जाननहार बने रहने रूप परमआवश्यक से रहित है वह श्रमण निश्चयचारित्र से भ्रष्ट है। तीर्थंकर प्रकृति के बंधक भावों में एक आवश्यकापरिहाणि भावना कही गयी है। चतुर्थगुणस्थानवर्ती मनुष्य भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर सकते हैं, उसके भी आवश्यकपरिहाणि भावना है। जब अविरत सम्यग्दृष्टि के भी निर्दोष भावना बन रही है, फिर पुरुष श्रमण होता है उसे अपने आवश्यकपरिहाणि की इच्छा नहीं होती हो, वह स्वच्छन्द रहे, अपना यह अमूल्य समय यों ही खो दे तो उसे चारित्रभ्रष्ट कहना युक्त ही है।

**श्रमण की द्विजता**—श्रमण का नाम द्विज है। द्विज नाम साधु का है। जो दूसरी बार उत्पन्न हो उसे द्विज कहते हैं। पहिली बार तो वह अपनी माँ से उत्पन्न हुआ है जिससे उमर का हिसाब लग रहा है, पर जो पुरुष परमवैराग्यबल से समस्त परिग्रहों को त्यागकर, आरम्भ को छोड़कर, सब प्रकारकी ममतावों का परिहार करके, देह तक की भी ममता न रखकर केवल आत्मसाधना के लिए दीक्षित हुआ है उसका दूसरी बार जन्म हुआ है। और जैसे शरीर का दूसरी बार जन्म हो जाय तो पहिले जन्म का संस्कार,वासना,करतूत,आदत नहीं रहती है। कोई मनुष्य है और वह मरकर बन गया घोड़ा तो,घोड़ा बनकर अब उसकी आदत में,उसके संस्कार में मनुष्य जैसी क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं? कोई घोड़ा मरकर आज मनुष्य हो गया है तो वह मनुष्य घोड़ा जैसा हिनहिनाए, चार टांगों से चले,ऐसा नहीं हो सकता है। तो जैसे दूसरा जन्म होने पर पहिले जन्म की प्रवृत्ति नहीं रहती है और इस ही प्रकार साधु हो जाने पर गृहस्थावस्था की प्रवृत्ति नहीं रह सकती है। उसका तो दूसरा जन्म हो गया है। ऐसे द्विज,साधु,श्रमण के अब सर्वप्रकार के मोहरागद्वेष आदिक दूर हो गए हैं और यह परमावश्यक परिणति में चल रहा है, ऐसा जो स्ववश मुनि हो, अपने आत्मवश हो, किसी भी परद्रव्य के अधीन न हो वह श्रमणश्रेष्ठ जगत में वंदनीय है।

**निरपेक्षता में साधुता व सापेक्षता में चारित्रभ्रष्टता**—साधु को किसी भी परद्रव्य की अपेक्षा में नहीं रहती है। वे साधु ऐसा नहीं सोचते कि मेरे विहार का साधन ठीक नहीं है। अरे ! वे तो विहार के मामले में चिड़ियों की तरह हैं, आखिर अकेले ही तो हैं, जैसे चिडियां के चित्त में जब आया तो पंख पसारकर उड़ गयी और कहीं जाकर बैठ गई, ऐसे ही साधु के चित्त में जब आया तो ईर्यासमिति से चल दिया। उसके कुछ अपेक्षा नहीं है, किन्तु यदि ममता बसी हुई है अब अपेक्षा आ जाती है। संग में रहने वाले जो लोग हैं वे साधु की परवाह करें या साधु उनकी परवाह करे?हाँ, संग में रहने वाले चूंकि वे साधुभक्ति से रह रहे हैं इसलिए वे साधु की परवाह करते हैं, किन्तु कोई साधु अपने संग के लोगों की ही चिन्ता रखे, उनका ही परिग्रह अपने सिर पर यदि लादे फिरता है तो उस साधु का व्यवहारचारित्र भी भ्रष्ट कहा गया है। अरे ! साधु तो हुए हैं स्वात्माश्रित धर्मध्यान के लिए, लेकिन अभी अपने नाम की वासना का संस्कार बना है ऐसा साधु व्यवहारचारित्र से भी भ्रष्ट कहा गया है। जो अपने आत्मा के आश्रय से होने वाले निश्चयधर्मध्यान और निश्चयशुक्लध्यान को करता है, जो परम ज्ञातृत्वरूप पुरुषार्थ में उद्यमी है,वही परम मुनि है।

**यथार्थ मुनि**—मुनि उसे कहते हैं जो अपने आत्मा का मनन करता रहे। केवल भेष मात्र से मुनि नहीं कहलाता। हाँ, जो मुनि होगा, परममुनित्व पायेगा, उसको निर्ग्रन्थ अवस्था में तो आना ही पड़ेगा। उसके चित्त में जब किसी भी परवस्तु की ममता नहीं रही तो कहां उसके वस्त्र रहेंगे, कहाँ घर रहेगा, कहां किसी अन्य विषयसाधनों का समागम रहेगा। उसकी स्थिति निर्ग्रन्थ दिगम्बर की होगी ही। लेकिन कोई जानबूझकर विषयसाधना की दृष्टि रखकर यह दिगम्बर भेष रखकर माने कि मैं मुनि हूँ तो वह आत्मदर्शन नहीं कर सकता है,तब तक उसके मुनित्व नहीं होता है। मुनिजन अन्तर्मुहूर्त बाद छठे और सातवें आते जाते रहते गुणध्यान में हैं। छठा गुणस्थान है एक शुभ विकल्प वाला, जिसमें धर्मविषयक विकल्प चलते हैं और सातवां गुणस्थान निर्विकल्प है,जिसमें कोई भी विकल्प नहीं होता है,निर्विकल्प अवस्था होती है। अन्तर्मुहूर्त याने इन दोनों गुणस्थानों के प्रसंग में मिनट-मिनट में वे निर्विकल्प बनते हैं। जो ऐसी प्रमत्त और अप्रमत्त दशा में झूला करता है वह श्रमण साधु पुरुष आत्ममनन किया करता है। वह परम मुनि है।

**प्रकृत शिक्षा**-यहाँ आचार्यदेव की यह शिक्षा है कि हे मुनिजनो !आत्मवश बनो। तुमने अध्यात्मयोग का सत्य आग्रह किया है, अपने आपमें अपने उपयोग को जोडने का दृढ़ निश्चय किया है, अब इस निश्चय आवश्यक

का जो क्रम है, पद्धति है उस पद्धतिपूर्वक अपने आत्मा का ही ध्यान बनाकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानपूर्वक इस आवश्यक कर्म को करो।इस आत्मा का करने योग्य कार्य केवल एक यह ही है, अपने को देखनाजानना और अपने आपमें समा जाना, इस ही का नाम मोक्षमार्ग है, शान्ति है, परम संतोष है।

**उपासक का कर्तव्य**—श्रावकजन जो ऐसा भी नहीं कर पा रहे हैं उनकी भी दृष्टि यही करने की रहती है अन्यथा वे उपासक नहीं कहला सकते हैं। गृहस्थ का नाम उपासक है। गृहस्थ का नाम श्रावक भी है। उपासक उसे कहते हैं जो इस परमतत्त्व की उपासना करे। परमतत्त्व जहाँ प्रकट होता है ऐसा मुनि पद पाने की भावना बने, उसे उपासक कहते हैं और श्रावक कहते हैं। अपने इस गृहस्थपद में जो करने योग्य कार्य हो उसमें सावधान बना रहे उसे श्रावक कहते हैं। इस आत्मा को करने योग्य आवश्यक काम केवल एक यह आत्मज्ञान, आत्मदर्शन और आत्मरमण है। यही समस्त पापसमूहों को हरने वाला है, मोक्ष का कारणभूत है। जो जीव अपने आपकी संभाल कर लेता है वह अपने इस ज्ञानरस की उपासना से पवित्र होता हुआ ऐसे शाश्वत शुद्ध आनन्द को प्राप्त करता है जो वचनों के अगोचर है, वाणी जिसको कहने में असमर्थ है। पूर्ण निराकुल शान्तस्थिति को प्राप्त हो जाता है शान्ति के अर्थ करने योग्य काम यही आत्मानुभव का है।

**धार्मिक प्रयत्नों में मूल पुरुषार्थ**-भैया ! हमारे सब धार्मिक प्रयत्नों का उद्देश्य एक आत्मानुभव के लिए होना चाहिए। अपना कर्तव्य है कि इस मोहजाल को ढीला करके ज्ञानार्जन की दशा में हम अपना कदम बढायें। मैं क्या हूं? जो सहजस्वरूप वाला है उसकी चर्चा करें, उसकी ही दृष्टि के लिए अपनी परिणति बनाएँ, यह काम एक ठोस काम है आत्मा की भलाई के लिए। इस विशुद्ध और अमोघ पुरुषार्थ के लिए हम अपना मनुष्य जीवन समझें। विषयों के भोगने के लिए अपना जीवन कतई न मानें। वह तो विपत्ति है, विडम्बना है। विषय भोगों के लिए हमने मनुष्य जीवन नहीं पाया है किन्तु अपने उद्धार के लिए पाया है, ऐसा निर्णय करके अपने ज्ञानस्वरूप के ज्ञान का ही उपयोग बनायें, इससे ही अपने आपकी वास्तविक भलाई है।

## गाथा 149

आवासयेण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा।

आवासयपरिहीणो समणो सो हादि बहिरप्पा।।149।।

**आवश्यक के लगाव व विलगाव का प्रभाव**—जो पुरुष आवश्यक से सहित है वह श्रमण तो अंतरंगात्मा कहलाता है अर्थात् अंतरात्मा है और जो आवश्यक कर्म से रहित है ऐसा आत्मा बहिरात्मा होता है। निश्चय परमआवश्यक का अर्थ है अपने आत्मस्वभाव को परखकर उसमें ही आचरण करना अर्थात् केवल ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप स्थिति बनाना, यह है परमावश्यक। इस परमावश्यक की जिसके दृष्टि नहीं है वह पुरुष चारित्र से भ्रष्ट बताया गया है। इस गाथा में यह बता रहे हैं कि जो आवश्यककर्म से युक्त होता है वह श्रमण तो अन्तरात्मा कहलाता है और जो आवश्यक से रहित होता है वह बहिरात्मा कहलाता है।

**अन्तरात्मा व बहिरात्मा की वृत्ति**—अन्तरात्मा उसे कहते हैं जो अपने अन्तर की बात जाने। अन्तर मायने अन्तरंगस्वरूप। अपने आत्मा के सहजस्वरूप को जाननेवाला सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा कहलाता है और अन्त:स्वरूप को जो न जाने ऐसा पुरुष बहिरात्मा कहलाता है। यह आत्मा कुछ न कुछ जानने का और कुछ

न कुछ प्रतीति में लाने का कार्य निरन्तर करता रहता है। जब यह अपने अन्त:स्वरूप को नहीं जानता है तब किसी बाह्यस्वरूप को जानता है। बाह्य पदार्थों को आत्मरूप से जो स्वीकार करे उसे बहिरात्मा कहते हैं। बहिरात्मा आवश्यक कर्म की दृष्टि भी नहीं कर पाता है। वह तो भ्रमवश जानता है कि मौज से रहना, मौज के साधन जुटाना, ये आवश्यक काम हैं। बहिरात्मा की स्थिति बहिर्मुखता की ही बनती रहती है।

**बहिर्मुखता में क्रोध की प्रकृति**—बहिरात्मा देह को ही अपना सर्वस्व मानकर सब कुछ परिणति इसके लिए करता है। इसे क्रोध आता है तो इस देह का कोई अपमान करे, विरोध करे तो क्रोध आता है। इसके घमंड आता है तो इस देह को दृष्टि में लेकर घमंड किया करता है, मैं बलिष्ट हूँ,इतने परिवार वाला हूँ,ऐसी गोष्ठी का हूँ,त्यागी हूँ,साधु हूँ,सब कुछ देह को लक्ष्य में लेकर यह क्रोध किया करता है। कुछ लोग ऐसी शंका करते हैं कि क्या वजह है कि आजकल साधुजन प्राय: जितने मिलते हैं वे क्रोध जराजरासी बातों में करने लगते हैं। जो भला साधु है वह तो जराजरासी बातों में क्रोध करने का काम नहीं करता। कदाचित् कोई तीव्र उदय आ जाय, न वश रहे, हो जाय क्रोध, वह स्थिति अलग है, पर जिन्हें अपने स्वरूप का पता नहीं, केवल देह को लक्ष्य में लेकर यही जानता है कि यह मैं साधु हूँ और जब केवल देह तक ही दृष्टि है तो यह कल्पना जगना प्राकृतिक है कि मुझे श्रावक लोग कौन नमस्कार करते हैं कौन नहीं करते हैं, अथवा मेरी भक्ति ठीक तरह से होनी चाहिए,उसमें त्रुटि दिखी तो क्रोध आ जाता है।

**बहिर्मुखता में मन का बेहूदा नाच**—पहिले कहां इतनी पूजायें थीं। कितने ही मुनीश्वर हो गए हैं पर कहां उनकी इतनी पूजा मिलती है, लेकिन कुछ लोग तो आजकल दूसरों से पूजन बनवाकर छपवाकर स्वयं रखकर अपने हाथ वितरण करते हैं और प्रेरणा करते हैं कि इस समय हमारा पूजन होना चाहिए। समय पर सज धजकर बैठ जाते हैं और उसमें मौज मानते हैं। यदि उसमें कुछ त्रुटि हो गयी तो शीघ्र ही उनके क्रोध आ जाता है। किसी श्रावक ने वंदना नहीं की, इसी पर क्रोध आ जाता है। हमारा आदर होना चाहिए, लोग जाने कि ये बड़े पहुंचे हुए साधु आये हैं, बड़ी तपस्या करते हैं। चाहे समाज में घुलमिलकर रहने के कारण आत्मबल भी खो दिया हो, देहदृष्टि रखने के कारण चाहे कुछ चैन भी न आ पाती हो, फिर भी लोग मेरी भक्ति करें, मेरी लोग हजूरी में खड़े रहें यदि ऐसी दृष्टि है तो जहाँ किसी भी परपदार्थ के सम्बन्ध में कुछ भी परिणमन का चिन्तन किया जाय वहाँ क्लेश होना प्राकृतिक है।

**अज्ञानदशा**—भैया ! जो मन करता है, जो इच्छा होती है ऐसी बाह्य में परिणति हो जाय, सो सोचने के कारण यह नहीं होता है, कभी ऐसा ही मैल बैठ गया हो कि यहाँ हम अपनी कुछ कल्पना कर रहे थे और ऐसा परिणमन भी वहाँ मिल गया, पर मेरे सोचने से बाह्य में यह परिणमन हुआ है, मेरे करने से देखो ऐसा-ऐसा काम बना है, यह सब भ्रम है। न हो परिणमन मन के अनुकूल तो चूँकि यह श्रद्धा कर बैठे हैं कि यह श्रावक हैं, हम मुनि हैं, वह साधु हैं, पूज्य है, हमारा यह दर्जा है, इनका यह दर्जा है, इनका दर्जा जमीन पर लोटकर चरणों में सिर रगड़ने का है, मेरा दर्जा बड़े ठाठबाट से पुजने का है, यों भ्रम बन गया है अज्ञान अवस्था में, तब पदपद पर क्रोध आना प्राकृतिक बात है।

**बहिर्मुखता में घमंड की वृत्ति**—घमंड भी इस देह में दृष्टि रखकर किया जाता है। न रहे देह की दृष्टि,मैं इस देह से भी भिन्न केवलज्ञानमात्र आकाशवत् निर्लेप आत्मा हूँ,यह दृष्टि रहे तो ऐसा ही दर्शन दूसरे जीवों में होगा कि ये भी इसी प्रकार के हैं। साधु का कर्तव्य तो मित्रता से रहने का है। सब जीवों में मैत्रीभाव की उत्सुकता साधुवों में ही हो सकती है। गृहस्थजन सब जीवों में उत्कृष्ट मैत्रीभाव नहीं निभा सकते हैं, किसी में न हो, ऐसी अभिलाषा रखना। मित्रता वहाँ होती है जहाँ दूसरों को अपने समान निरखा जा सकता है। दूसरों

को अपने से बड़ा समझें तो मित्रता नहीं निभती, दूसरों को अपने से हीन समझें तो भी मित्रता नहीं निभती। अपने को बड़ा समझने पर भक्ति बनेगी और अपने से दूसरों की हीन समझने पर घृणा जगेगी। पर मित्रता तब ही सम्भव है जब हम दूसरों को अपने समान समझें। साधुपुरुष जगत के समस्त जीवों को अपने समान निरख रहे हैं।

**स्वभावदृष्टि की उदारता**—यद्यपि पर्यायदृष्टि से व्यवहार में भिन्न-भिन्न स्थिति के जीव हैं, समान नहीं हैं, लेकिन स्वरूपदृष्टि से, स्वभाव की परख से सब जीव एक समान हैं और साधु के ही समान नहीं किन्तु अरहंतसिद्ध परमात्मा के भी समान हैं समस्त जीव। एक स्वरूप की समानता की दृष्टि की अपेक्षा से बात खोजिए, नहीं तो ऐसी विडम्बना हो सकती है कि जैसे कहीं लिखा है कि गाय और ब्राह्मण एक समान होते हैं तो क्या सर्वथा ही वहाँ यह अर्थ लगेगा कि गाय और ब्राह्मण दोनों सर्वदृष्टियों से समान है? अरे ! जिस दृष्टि से समानता बतायी है उस दृष्टि से समान है। कोई सोचने लगे कि हलुवा तो गाय को खिला दें और घास ब्राह्मण के सामने डाल दें क्योंकि दोनों समान ही तो हैं तो यह एक विडम्बना बन जायेगी। तो भाई ! जो हीन आचरण के हैं जिनके यहाँ मांसभक्षण का रिवाज हैं, जो पापों से बरी नहीं हो पाते हैं उनमें घुलमिलकर रहने लगें तो उससे तो अपना नुकसान ही होगा। संगति तो आत्मोत्थान के लिये उत्तम पुरुषों की ही बतायी है, क्योंकि इस जीव में ऐसी कमजोरी है कि वह नीची बातों को नीचे लोगों का संग पाकर जल्दी उनका ग्रहण कर सकता है और ऊँची बात को ग्रहण करने में इसे बड़ा पौरुष करना पड़ता है।

**पर्यायाश्रय में कषायजागृति**—यद्यपि ये जीव व्यवहारदृष्टि से परस्पर बिल्कुल भिन्न हैं, कीड़ा,मकोड़ा और साधु में कोई बराबरी रक्खे तो ऐसा कैसे हो सकता है? पेड़, वनस्पति और साधु ये जीव क्या एक समान हैं? पर्यायदृष्टि से समान नहीं हैं, लेकिन जो सहजस्वरूप है, जो अपने आप लक्षण है जीव का, उस दृष्टि से देखो तो सब जीव एक समान है। जो सब जीवों को समान दृष्टि से निरख सकता है उसके मित्रता जग सकती है, जो नहीं निरख सकता है वह देह को ही यह मैं साधु हूँ,यह मैं पंडित हूँ,यह मैं श्रीमत हूँ,यह मैं धनपरिजनसम्पन्न हूँ,यह मैं नेता हूँ,ऐसी दृष्टि बनाकर अपनी वृत्ति ऐसी बहिर्मुखता की रखता है कि चित्त के विरुद्ध कुछ परिणति होने पर क्रोध जगता है और लोगों में अपना मान भी पुष्ट करता है। बहिर्मुख होने पर अवगुण सभी आने लगते हैं।

**बहिर्मुखता में मायाचार व लोभ की प्रकृति**—मायाचार और लोभ, ये भी तो देह में आत्मबुद्धि करने पर ही किये जा सकते हैं। देह पर दृष्टि देकर जब यह बुद्धि बनती है कि यह मैं हूँ,मुझे इतनी सामग्री जुटानी चाहिए, ऐसी इच्छा बनी रहती है तो जैसे इच्छा है कि इतनी धनसम्पदा जुड़ना चाहिए और आग्रह करे तो धनसम्पदा अत्यन्त अधिक जुड़ जाना क्या यह निर्मल सदाचार से सम्भव है?मायाचार करें, लोभ करें, तृष्णा करें ऐसे मायाचार में अनेक अभ्यास से धनसम्पदा जुड़ती है। हां ! यह कोई एकान्तिक नियम नहीं है किन्तु जो तृष्णा रक्खे हैं, और धनसम्पदा के होने की ही होड़ लगाये हैं ऐसे पुरुषों की ही बात है कि वे अन्याय,मायाचार में अधिक लगते हैं। तिस पर भी वे असत्य व्यवहार करके सफल नहीं हो पाते। सफल तो वे अपने पुण्य के उदय के कारण हो रहे हैं। बड़े-बड़े चक्रवर्तियों के छः खण्ड की विभूति आयी है, उस विभूति क,उस वैभव के आने का कोई निषेध नहीं ह, तीर्थंकरों के तो न जाने कितना वैभव रहता है? पुण्य है तो कहां जायेगा, किन्तु तृष्णा खराब है। तृष्णा किए बिना, धर्मदृष्टि रक्खे हुए अपना जीवन शुद्ध कामों में व्यतीत करके गृहस्थों के योग्य त्रिवर्ग सेवन करते हुए सम्पदा आती है, आये, उसकी बात नहीं कह रहे हैं, पर देह में बुद्धि रखकर हमको धनी बनना है, हमें प्रतिष्ठा चाहिए,ऐसी बहिर्मुखता की बुद्धि आये तो वहाँ

मायाचार और लोभकषाय तो करना ही पड़ता है। यों बहिर्मुख होने में इस जीव का सर्वत्र अकल्याण है। इसको आवश्यक कार्य की दृष्टि नहीं रहती है।

**सम्यक्त्व में स्वरूपाचरण का वास**—जितने भी सम्यग्दृष्टि हैं, अविरत सम्यग्दृष्टि, श्रावक सम्यग्दृष्टि, श्रमण सम्यग्दृष्टि सबके एक ही निर्णय है। निश्चय से परमआवश्यक काम आत्मा का यह अभेद अनुपचार रत्नत्रयात्मक परिणमन है। अपने आत्मा का ही श्रद्धान हो, ज्ञान हो और इस आत्मतत्त्व में ही अनुष्ठान हो इसमें जो परिणति बनती है वह परमआवश्यक कर्तव्य है। इसकी दृष्टि, इसका ज्ञान, इसका लक्ष्य प्रत्येक सम्यग्दृष्टियों में रहता है, कोई इसे कर पाये अथवा न कर पाये। जो शुद्ध दृष्टि रखता है वह भी तो एक करना होता है। चतुर्थ गुणस्थान में, स्वरूपाचरण चारित्र में और होता क्या है? चारित्र नाम छठे गुणस्थान का है और संयमासंयम नाम है पंचम गुणस्थान का। इस अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में कौनसा चारित्र आ गया है, जिसने आत्मतत्त्व का श्रद्धान किया है? उसे बाहर की ओरझुकने का उत्साह नहीं रहता है, वह तो अपने अन्तर की ओरही झुकना चाहता है।बस इतना जो उसे अपने आत्मतत्त्व का लगाव बन गया है, वही यहाँ स्वरूपाचरणचारित्र है। भैया ! चारित्र तो सर्वत्र स्वरूपाचरण ही है। संयमासंयम और विविध चारित्र पालन करके भी वहाँ कौन पुरुष कितना संयमी बना है, यह स्वरूपाचरण की नाप से ही यथार्थ बताया जा सकेगा। श्रावक के स्वरूपाचरण बढ़ गया,साधु के और वृद्धिगत हो गया, श्रेणी में रहने वाले के यह स्वरूपाचरण और बढ़ गया है, परमात्मा के स्वरूपाचरण बिल्कुल पूर्ण फिट हो गया है और सिद्ध प्रभु के तो बाह्य मल भी नहीं रहा है। यों स्वरूपाचरण का ही सर्वत्र विस्तार हो रहा है।

**बहिरात्मा और अन्तरात्मा का परिचय**—जिसे अपने इस स्वरूप की खबर नहीं है, जिसके विकास का लक्ष्य नहीं बना है वह पुरुष बहिर्मुख है और जिसको इस आवश्यककर्म की दृष्टि जगी है और जो इस आवश्यककर्म के लिए उत्सुक हैं वह अन्तरात्मा । उनमें जघन्य अंतरात्मा तो असंयत सम्यग्दृष्टि है और उत्कृष्ट अंतरात्मा निर्विकल्प श्रमण है। जो स्ववश है, किसी परतत्त्व, परभाव की अपेक्षा नहींरखता है वह उत्कृष्ट अन्तरात्मा है और उनमें भी उत्कृष्ट अन्तरात्मा, महान् अन्तरात्मा वह श्रमण है जिसके कषायों का अभाव हो गया है, जो क्षीणमोह हो गया है, वह उत्कृष्ट महान् अन्तरात्मा है। उत्कृष्ट अन्तरात्मा और असंयत सम्यग्दृष्टियों के बीच के जितने अन्तरात्मा हैं वे मध्यम अन्तरात्मा हैं, किन्तु जो पुरुष न निश्चय परमआवश्यक को कर पाता है और जो व्यवहार के परमआवश्यक से भी भ्रष्ट है, और जिन्हें इस परमआवश्यक की दृष्टि ही नहीं मिली है वे सब बहिरात्मा कहलाते हैं।

**स्वसमय के कर्मविनाश**—कर्मों का विनाश अंत:स्वरूप के विकास के निमित्त से होगा, शरीर का रूपक बनाने से न होगा।शरीर का निर्ग्रन्थ रूप तो उनके बनता ही है जो विरक्त और ज्ञानीपुरुष होते हैं, पर उपादेय चीज तो आन्तरिक स्वरूप हैं। समय नाम आत्मा का है। ये समय दो प्रकार के होते हैं—एक स्वसमय और एक परसमय। स्वसमयमें यदि यह स्वरूप तका जाय कि जो उत्कृष्टरूप से दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित हो गया है वह तो स्वसमय है और जो परसमय में स्थित है वह परसमय है।यहाँ इस स्वसमय में हुआ परमात्मा और परसमय में आया अन्तरात्मा और परमात्मा। यों परसमय के दो भेद हुए। यदि स्वसमय की परिभाषा यों देखी जाय कि जिसको स्व की दृष्टि जगी है और इस दृष्टि और उपयोग से जो स्व की ओर ही झुका है, पर की ओर से उपेक्षा किए रहता है तो ऐसे स्वसमय दो प्रकार के हैं—एक अन्तरात्मा और एक परमात्मा। तब परसमय नाम केवल बहिरात्मा का है।

**अध्यात्मयोगी की विकल्प से पारंगतता**—वह अंतरात्मा, अध्यात्मयोगी, परमश्रमण सदा परमावश्यक कर्मों से युक्त रहता है। भैया ! सांसारिक सुखदु:ख, शुभभाव, अशुभभाव, कल्पनाजाल, विकल्पजाल इन सबसे दूर रहना है। ये सब एक भयानक वन की तरह हैं। इसे विशाल भयानक वन में भूला हुआ पुरुष कहा जाय? उसे ऐसा मार्ग नहीं मिलता है कि जिससे किसी तरह से चलतेचलते उसे ग्राम का रास्ता मिले, उसे मार्गदर्शन नहीं है। ऐसे ही जो विषयकषाय,संकल्पविकल्प,कल्पनाजाल में बसते हैं उनको भी मार्गदर्शन नहीं है कि वे किस उपयोग से चलें कि उनको संसार के संकट टलें और मोक्ष का पंथ मिले। यह परमश्रमण उन सब अटवियों से पार है,इसी कारण यह आत्मनिष्ठ रहता है।

**गृहस्थ और योगियों में प्रसन्नता के अन्तर का कारण**—गृहस्थजन तो बड़े-बड़े महलों में रहकर भी सुखी नहीं रह पाते हैं और योगीजन जंगल में एकाकी रहते हुए भी कितनी प्रसन्नमुद्रा में अपने समय का सदुपयोग किया करते हैं। यह किस बात का अन्तर आ गया है? एक बड़ी सम्पदा के साधनों में रहकर भी चैन से नहीं रह पाते हैं और एक सब कुछ त्यागकर निर्जन वन में रहकर प्रसन्नमुद्रा में रहते हैं। यह किस बात का अन्तर है? यह अन्तर है आत्मदृष्टि का। जो पुरुष जितना अधिक आत्मनिष्ठ रह सकता है वह उतना ही प्रसन्न है। जो स्वात्मदृष्टि से भी भ्रष्ट है, इन बाह्यपदार्थों में जो विषयकषाय के हैं उनमें जो रहा करते हैं उन्हें शान्ति कैसे मिल सकती है? अपने आपको आकिन्चन्यस्वरूप केवल ज्ञानज्योतिमात्र, जिसके अन्दर रागादिक भाव कुछ भी नहीं है ऐसा शुद्ध सहजस्वरूपमात्र निरख लेना ही एक उत्कृष्ट वैभव है और इसका ही कोई उपाय बना ले तो यही परमपुरुषार्थ है। इस कर्तव्य से ही जीवन की सफलता है।

**विषयकषायविकल्पों से निवृत्ति में लाभ**—भैया ! यहाँ की जड़ सम्पदा में ही फँसे रहे, इनके ही संग्रह,विग्रह,रक्षण में अपना उपयोग रमाये रहे तो क्या हित है? ये तो सब मिट जाने वाली चीजें हैं। विनाशीक चीजों में पड़ने से खुद की बरबादी है। जैसे कहते हैं ना कि जो पुरुष उद्देश्यविहीन है, क्षण में रुष्ट, क्षण में तुष्ट हो रहा है अथवा क्षण में मित्रता और क्षण में बैर बनाये रहता है, ऐसे पुरुषों में फँसना एक बरबादी का ही कारण है। जैसे लोग इस प्रकार नीति में कहते हैं ऐसे ही यह विनाशीक सम्पदा, विनाशीक कल्पनाजाल, विनाशीक विषयकषायों के जाल में फँसना, इससे तो अपने आत्मा की ही बरबादी है। इनसे निर्वृत्त होकर हम अपने इस शुद्ध सहजस्वरूप की ओर आएँ, ऐसा प्रयत्न बना सके तो जीवन सफल है और ये भौतिक पदार्थ तो अब भी मेरे नहीं हैं और न कभी मेरे थे और न कभी मेरे हो सकेंगे। इससे सर्व से विविक्त आत्मस्वरूप की दृष्टि में ही कल्याण है। इसका पुरुषार्थ कीजिये।

## गाथा 150

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।

जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा।।150।।

**निश्चय परमावश्यक के अनधिकारी व अधिकारी**—निश्चय परआवश्यक का अधिकारी कौन है और अनधिकारी कौन है? इस दिशा का वर्णन करते हुए आचार्यदेव बहिरात्मा और अन्तरात्मा का फिर भी परिचय दे रहे हैं।

जो पुरुष अन्तरंग जल्प व बहिर्जल्पवाद में रहते हैं वे तो बहिरात्मा होते हैं और तो किसी भी जल्प में नहीं वर्तते हैं वे अन्तरात्मा होते हैं।

**द्रव्यलिंगी साधु की शुभाशुभभावों में अटक**—कोई पुरुष जिनलिंग को धारण करके, दिगम्बर मुद्रा की दीक्षा भी ग्रहण कर ले, किन्तु आत्मा का क्या स्वरूप है? उस मर्म का परिचय न हो तो वह कठिन तपस्या करके भी तपोधन नहीं है। वह श्रमण पुण्यकर्म की इच्छा से स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, स्तवन आदिक बाह्य जल्पों को करता है। पुण्यकर्म बँधेंगे तो हमें मोक्ष मिलेगा, ऐसा उसकी आकांक्षा रहती है। वह मोक्ष में अपने कल्पित सुखों का उत्कृष्टरूप मानता है। मोक्षसुख और सांसारिक सुख दोनों ही बिल्कुल विपरीत चीजें हैं, ऐसा उसे भान नहीं है। सब क्रियावों में वह सावधान रहता है, पर उसकी सावधानी, उसकी प्रेरणा इस पर्यायबुद्धि से मिली हुई है, मैं साधु हूँ,मुझे स्वाध्याय करना चाहिए, स्तवन करना चाहिए, मेरी क्रियावों में कोई दोष न रहे, बिल्कुल निर्दोष हमारी क्रियाएँ सधती रहें, इससे हमारा यह साधुजीवन सफल होगा और परलोक में आनन्द मिलेगा, ऐसी उसकी वासना बनी है, इन वासनावों के कारण वह क्रियाकाण्डों को निर्दोष पालकर इतना महान् श्रम करके भी श्रमणाभास है।

**श्रमणाभास का सत्कारविषयक लोभ**—यह साधु शयन, गमन, ठहरना आदि सभी कार्यों में सत्कार आदि का लोभी है। भोजन के समय भी बड़ी-बड़ी भक्ति हो ऐसा अन्तर्जल्प करता रहता है। यदि कोई त्रुटि हो गई तो उस साधु का चित्त बिगड़ जाता है। यद्यपि भोजन के समय साधुवों को श्रावक की भक्ति का देखना जरूरी है, क्योंकि श्रावक की भक्ति से आहार की शुद्धि का परिचय मिलता है। जिसमें भक्ति न हो तो समझना कि आहार भी यों ही लापरवाहीसे बनाया है, निर्दोष नहीं है। तो यद्यपि श्रावकों की भक्ति देखना साधुजनों को आवश्यक है, किन्तु यह श्रमणाभास तो अपना अपमान समझता है अगर किसी की भक्ति में कमी हुई। जबकि योग्य साधु समतापूर्वक निरीक्षण करते हैं और कोई अयोग्य आचरण दिख जाये, जो क्षम्य न हो सके ऐसी त्रुटि दिखने पर समतापूर्वक ही विहार कर जाते हैं, लेकिन यह श्रमणाभास अपनी पर्यायबुद्धि के कारण अपने सम्मानअपमान का सवाल सामने रखकर भक्त को देखता है। यह ऐसे सत्कार के लाभ का लोभी है। ये सभी लोग पूजक हैं, हम पूज्य हैं, हमारा पद बड़ा है, ऐसा चित्त में बसा है इस कारण सभी बातों में अपने सम्मानअपमान का निर्णय वह करता है।

**साधुवों की सम्मानअपमान में समता**—अरे !साधु पुरुष तो सम्मान और अपमान में समान बुद्धि रक्खा करते हैं। सम्मान से बढ़कर अपमान में अपना लाभ समझते हैं। सम्मान में बुद्धि ठिकाने नहीं रह सकती है।सम्मान में अपने आत्मस्वरूप से चिग जाना सम्भव है। सम्मान से अधिक लाभ देने वाली चीज अपमान है। अपमान नाम है उसका जो मान को नष्ट करे। जो मानकषाय को नष्ट करे ऐसी घटना हानि करने वाली है या लाभ करने वाली? लोग तो अपनी शान रखने के लिए योग्य अयोग्य सभी काम कर डालते हैं।

**झूठी शान की चेष्टा**—राजा भोज के समय में या किसी अन्य विद्या से भी राजा के समय एक ऐसी घटना घटी होगी जिसका कि साहित्य में कहीं वर्णन है। सभा भरी हुई थी। राजा ने विद्वानों से कहा कि कोई ऐसी कविता आज दिखावो जो कभी सुनी न हो, बड़ी विलक्षण हो। उन विद्वानों में से एक कवि ऐसा बैठा था जो चतुर भी था, किन्तु उसकी चतुराई की कद्र न होने से कई दिनों से उसे कोई पुरस्कार भी नहीं मिला था। उसके मन में बदला लेने की भावना थी। उसने कहा—महाराज मैं ऐसी कविता दिखाऊँगा जो कभी भी किसी ने आज तक न देखी हो। ऐसी विलक्षण कविता आज मैं सुनाऊँगा। जेब से उसने एक कोरा कागज निकाला जिसमें कुछ भी न लिखा था और कहा—महाराज यह है वह कविता जो बड़ी विलक्षण है। राजा ने कहा

अच्छा देखें। सो वह विद्वान बोला—महाराज दिखायेंगे मगर यह कविता इतनी ऊँची है कि यह उसी को दिख सकती है जो एक बाप का हो। राजा ने कागज को लेकर देखा तो उसमें कुछ भी न लिखा था, पर इस शान के मारे कि सभा के लोग कहीं यह न कह बैठें कि यह एक बाप का नहीं है सो वह कागज देखकर बोला वाह ! यह बड़ी सुन्दर कविता है। पास में एक वृद्ध पंडितजी बैठे थे,उन्होंने भी उस कागज को देखकर कहा—वाह ! यह बड़ी सुन्दर कविता है। इसी तरह से दसों लोगों को दिखाया तो सभी ने वही बात कही। उन सबने यही सोचा था कि अगर मैंने कह दिया कि इसमें कुछ नहीं लिखा है तो सभी कहेंगे कि यह एक बाप का नहीं है। तो भाई अपनी शान रखने के लिए योग्यअयोग्य सभी काम लोग किया करते हैं। वह शान एक पर्यायबुद्धि की ही बात है,तत्त्व कुछ नहीं है।

**ज्ञानी की वृत्ति**—कौन जानता है मुझे कि यह मैं आत्मा अमूर्त शुद्धज्ञानानन्दस्वरूप हूँ। जो जानता है उसको सम्मान और अपमान के विकल्प नहीं होते हैं। वह तो एक अलौकिक निराली दुनिया में पहुंचा हुआ है। जो श्रमण समस्त क्रियावों में, स्थितियों में दूसरों से सत्कार आदि के लाभ का लोभी है वह अपने अन्तरंग में कुछ न कुछ जल्पगल्प शब्द गढ़ता रहता है। ऐसा जीव तो बहिर्मुख है। बहिर्मुख पुरुष के निश्चय परमआवश्यक कर्म नहीं हो सकता है। सर्वप्रयत्नों से जिसने अपने आत्मस्वरूप की और ही उपयोग किया है, जो किसी भी समय शुभ और अशुभ किसी भी विकल्पजाल में नहीं प्रवर्तता है वह है परम तपस्वी। अपने उपयोग को उपयोग के स्रोतभूत चैतन्यस्वभाव में लगाना, यही है वास्तविक प्रतपन और परमार्थ तपश्चरण।ऐसा परमतपस्वी ही साक्षात् अन्तरात्मा है। जो विशिष्ट अन्तरात्मा है प्रगतिशील उसके ही निश्चय परमआवश्यक काम होता है। हमारे लिए आवश्यक काम केवल अपना श्रद्धा,ज्ञान और अपने आपमें रमण करना है।

**निराधार मोह**—ये जगत् के जाल, परिजन का समागम, ये सब बरबादी के निमित्तभूत हैं। इनसे शान्ति, हित, आनन्द कुछ नहीं मिलता है, ये तो संसार में रुलाने के ही कारण बनते हैं। यह परिजनों का समागम इस जीव को कुछ भी शान्ति दे पाता हो तो अनुभव करके देख लो। प्रथम तो यही घोर विपत्ति है कि जगत् के समस्त जीव एकस्वरूप वाले हैं। मुझमें और समस्त जीवों में स्वरूपदृष्टि से रंच भेद नहीं है। व्यक्ति की दृष्टि से जैसे अन्य जीव सब मुझसे न्यारे हैं ऐसे ही पूरे न्यारे ये घर में बसने वाले जीव भी हैं। फिर कोई ऐसी गुञ्जाइश नहीं है कि अनन्त जीवों में से दो चार जीवों में आत्मीय बुद्धि की जाय, लेकिन मोह का अँधेरा छाया है इसलिए ऐसी दृष्टि पड़ गई है कि ये परिजन तो मेरे हैं और बाकी जीव मेरे कैसे हो सकते हैं? कदाचित् कोई परिजन भी नहीं है, किन्तु एक वार्तालाप करके कुछ प्रेम बढ़ गया है तो उसमें भी ऐसा मालूम होता है कि यह मुझे अपना सर्वस्व सौंपे हुए है, यह तो मेरा ही है। अरे जब यहाँ यह देह तक भी अपना नहीं है तो किसकी आशा रखते हो?

**ज्ञानी का आत्मशोधन**—यह जीव इस मोह विडम्बना में ही फँस-फँस कर अपने धर्मकर्तव्य से विमुख हो जाता है और मोह-मोह में ही अपना जीवन खो देता है। जीवन बड़े वेग से गुजर रहा है। मृत्यु के निकट अधिक-अधिक पहुंच रहे हैंलेकिन दो चार वर्ष भी बिना मोह किए अपने आत्मा की सुध लेते रहने में यह नहीं व्यतीत कर पाता है। सबसे बड़ी विपदा तो यह लगी है कि यह मेरा अपमान हो रहा है ऐसी बाह्यदृष्टि की। जैसे कोई मर रहा हो और मरते समय में उसे विषयभोगों के साधन सामने सारे कोई इकट्ठे कर दे तो उसे वे नहीं सुहाते हैं। हालत तो यह हो रही है कि मर रहे हैं, अब इनके भोगने की क्या सुध करें? जैसे फांसी लगने को हो तो फंदा लगने से पहिले उसे बड़ी-बड़ी खानेपीने की सरस चीजें पेश करें तो भी उनके खाने में

उसका चित्त न लगेगा। वह तो जानता है कि अब हम मरने वाले है। ऐसे ही जिसको अपने वर्तमान बन्धनविपदा का परिज्ञान है, भव-भव के संचित कर्मजालों से हम बंधे हुए हैं और उन कर्मों के उदय में हमारी बड़ी-बड़ी दुर्गतियां हो सकती हैं ऐसा जिसके ध्यान है उस ज्ञानी विरक्त पुरुष के समक्ष ये सूक्ष्म भी विषयभोग के साधन आ जायें तो भी रुचिकर नहीं होते हैं, और कोई सम्मान अथवा अपमान करे तो उनको वह अपने चित्त में स्थान नहीं देता है, उसे तो अपनी पड़ी है कि मेरा जो यह उत्कृष्ट सहजस्वरूप है उसकी संभाल में लगें, इसमें ही भलाई है और मायामयी जीवों की परिणति को निरखकर सम्मान अथवा अपमान करने की कल्पना यह मुझे शरण नहीं है।

**विकल्पजालों का स्वच्छन्द विचरण**—भैया ! जो शुद्ध आशय के होते हैं, जिनकी दृष्टि निर्मल है,वे सम्मान अपमान इत्यादि बाहरी चीजों में अपना ज्ञानधन नष्ट नहीं करते हैं। लोक में कितना महान् विकल्पजाल है? एक ही सेकेण्ड में यह मन कितने विकल्प कर डालता है, इसको बम्बई, कलकत्ता इत्यादि जाने में एक सेकण्ड भी नहीं लगता है। कितनी तीव्र दौड़ है इस मन की? ये विकल्पजाल अपनी इच्छा से स्वच्छन्द होकरउछल रहे हैं इस आत्मा में। यह आत्मा विवश हो गया है भ्रम के कारण।अपने महान् स्वरूपधन की स्मृति न होने से यह कायर बन गया है और इस पर अब विकल्पजाल स्वच्छन्द होकर नाच रहे हैं। और यह मोही बनकर उन विकल्पजालों की हाँ में हाँ मिलाकर मूढ़ बन रहा है।

**ज्ञानी द्वारा नयपक्षों का उल्लंघन**—सम्यग्दृष्टि पुरुष,प्रगतिशील अन्तरात्मा जन विकल्पजालों से भरे हुए समस्त नयपक्षों की कक्षा को लांघ डालते हैं। नयपक्षों में पड़े कि विकल्प बढेंगे, आकुलता बढेगी। आत्मा का शुद्ध आनन्द न जग सकेगा, इस कारण इस नयपक्ष के जालों को लांघ करके एक समता की समतल पृथ्वी में स्थिर रहते हैं। ज्ञानी पुरुष अपने इस आत्मस्वभाव को निरखते हैं। यह आत्मस्वभाव अन्तरंग में, बहिरंग में सर्वप्रदेशों में एक शुद्ध ज्ञानप्रकाश को लिए हुए है। यह ज्ञानप्रकाश रागद्वेष की बाधावों से परे है। रागद्वेष अज्ञान है, मेरा स्वरूप तो ज्ञान है, ऐसा ज्ञानमात्र समतारस से भरपूर निजस्वभाव को प्राप्त होता है जो कि एक अनुभूति मात्र है। किसी को बताया नहीं जा सकता कि यह मैं आत्मा क्या हूं? यह विकल्पों द्वारा जाना नहीं जा सकता। किन्तु स्वयं ज्ञान के अनुभवरूप परिणमे तो अनुभूति में ही अनुभव करता रहता है।

**निरापद निजगृह का संवास**—यह मैं आत्मा शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ,जगत् के समस्त पदार्थों से अत्यन्त न्यारा हूँ। कल्याणार्थी भव्य आत्मा का कर्तव्य है कि सब जल्पवादों को छोड़ने का यत्न करे। जैसे बड़ी गर्मी के दिनों में वहाँ विकट लू चल रही है, कोई एक छोटी कोठी या तलघर की बड़ी ठंड मिल जाय तो उसमें बैठे हुए बड़ा आनंद होता है। उस कोठी से बाहर थोड़ा भी मुख निकालकर देखा तो लपटों की ज्वाला से यह मुख झुलस जाता है। ऐसी कोठी में बसकर बाहर निकलने की चाह नहीं की जाती है। ऐसे ही अपने निज शुद्ध ज्ञायकस्वरूप में जो उपयोग स्थित है वह बहुत आनन्दमग्न है। इसके बाहर सब जगह संताप की ज्वालाएँ बरस रही हैं, घर में जाये तो वहाँ भी नाना विकल्प, संताप, अनुताप, खेद, राग की आकुलता, कठिन विपदा इसके सिर पड़ती है, दुकान जाय तो वहाँ भी इसे बहुत विकल्प जाल बनाना पड़ता है। कैसे अपना चिन्तितकाम बने, इसके लिए निरन्तर व्याकुलसा बना रहता है। किसी सभा सोसायटी में बैठे तो वहाँ भी कितने प्रकार के विकल्पजाल यह बनाया करता है। इसे बाहर में किसी भी जगह आराम नहीं मिलता है। आराम का साधन तो अपने आपके आत्मा के अन्दर में है, शुद्ध ज्ञानमात्र अपना अनुभव बनायें तो वहाँ किसी प्रकार का क्लेश नहीं है।

**जल्प विकल्पों के त्याग का उपदेश**—हे कल्याणार्थी भव्य पुरुषो ! भवभय के करने वाले इन अंतरंग बहिर्जल्पों को त्याग करके समतारस से परिपूर्ण एक इस चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मतत्त्व को देखो। इसका ही स्मरण करो तो मोह मूल से नष्ट हो जायेगा। मोहभाव के क्षीण हो जाने पर फिर अंतरंग में यह लौकिक लाभ प्राप्त कर लेता है। इस आत्मा का सब कुछ धन,सारी समृद्धि इस आत्मा में ही भरी पड़ी हुई है। अपने आपकी यह महत्ता नहीं आंकता है। इस कारण असार भिन्न विनाशीक पदार्थों में लगकर यह मोही जीव अपनी कितनी बरबादी कर रहा है, इस बात को वह खुद भी नहीं जानता है, किन्तु ज्ञानीजन यह समझ पाते हैं कि ये मोहीजन व्यामोह में आकर अपना कितना नुकसान किए जा रहे हैं, निजस्वरूप का कितना घात किए जा रहे हैं? अब बाह्य कल्पनाजालों में चित्त न रमाकर कुछ अपने आत्मस्वरूप की सुध लेना चाहिए। यह निज आत्मा का आश्रय ही भला कर सकेगा। यह ही हम आप सबका परमार्थ शरण है। इसकी ही दृष्टि, भक्ति, उपासना करें, बस यहाँ से ही सच्चा मार्ग मिलेगा और शाश्वत आनन्द प्राप्त होगा।

## गाथा 151

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सोवि अंतरंगप्पा।

झाणविहीणो समणो वहिरप्पा इदि विजाणीहि।।151।।

**शुद्धध्यान की उपादेयता का संकेत**—निश्चय परमवाश्यक के प्रकरण में यह उपादेयतत्त्व क्या है? इस दृष्टि को लेकर अन्तरात्मा और बहिरात्मा का लक्षण किया जा रहा है। जो पुरुष धर्मध्यान और शुक्लध्यान में परिणत हो रहा है वह तो अन्तरंग आत्मा है और जो ध्यान से रहित श्रमण है वह बहिरात्मा है।

**पदभ्रष्टता**—जो जिस पद में होता है उस पद से गिरा हुआ हो, वह चाहे अनेक से उठा हुआ भी क्यों न हो, वह पतित कहलाता है। गृहस्थ परिवार में रहकर भी, विषयभोगों का सेवन करके भी यदि अपनी दृष्टि विशुद्ध रखता है और अपने कृत्य पर खेद प्रकट करता है और मुनि की, मुनिधर्म की उपासना का परिणाम रखता है तो वह ऐसे मुनि से श्रेष्ठ है जो मुनिपद धारण करके भी, द्रव्यलिंग धारण करने के बावजूद भी, जिसने 28 मूल गुणों में पन्चेन्द्रिय के विषयों का निरोध कर मूल गुणों के पालने की प्रतिज्ञा ली हैऔर वह यदि किसी इन्द्रियविषय की चाह रखता है तो वह मुनि पतित है। इसी दृष्टि को ख्याल में लेकर यह सुनना है कि जो ध्यान से रहित श्रमण है वह बहिरात्मा है। जिसका ध्यान निर्मल नहीं है, लौकिक बातों को उपयोग में ले रहा है, जो भोजनपान, चलनेबैठने, इज्जतप्रतिष्ठा, बोलचाल,सम्मान की चाह, जो ऐब गृहस्थ में हो सकते हैं वे ऐब श्रमण में आये तो श्रमण पतित है और उसे वस्तुत: मुनि संज्ञा भी नहीं दी जा सकती है, वह तो बहिरात्मा है।

**यथार्थ ज्ञातव्यता**—जो पुरुष ऐसे श्रमणभासों को यों निरखकर चले कि अपने से तो ये अच्छे हैं अपन कोट, रज़ाई ओढ़ते हैं, ये तो नग्न रहते हैं, अपन दस बार खाते हैं, ये तो एक बार खाते हैं, अपन से तो भले हैं, ऐसा सोचकर उन मुनियों के जो कि ध्यान से रहित हैं और गृहस्थों की तरह लोककार्यों में उपयोग दे रहे हैं उनके उपासक गृहस्थ भी बुद्धिहीन हो जाते हैं। यह ग्रन्थ मुख्यता से मुनियों को समझाने के लिए

कुन्दकुन्ददेव ने बनाया है, पर जो बात भले मुनिराजों के लिए सुनने को हो सकती है वह बात गृहस्थ को भी जानने के लिए भली हो सकती है।

**व्यवहार धर्मध्यान व निश्चय धर्मध्यान की पद्धति**—इस गाथा में अपने आत्मा के आलम्बन से ही उत्पन्न होने वाला जो निश्चय धर्मध्यान है और निश्चय शुक्लध्यान है उन दोनों की उपादेयता प्रकट की गई है। निश्चय की दृष्टि से जिस तत्त्व को कहा जाता है उसको अभेदरूप में देखना चाहिए। तत्त्व को भेदरूप में देखने पर वह निश्चय की श्रेणी की बात नहीं रहती है। वह व्यवहार की पंक्ति में पहुंच जाती है। धर्मध्यान करते हुए कोई पुरुष उसे विकल्प पद्धति से कर रहा है, अब स्वाध्याय करना है, अब पूजा करना है, अब वंदन करना है, दया पालकर चले, किसी जीव का दिल न दु:खाये, अपने शीलव्रत से रहे, परिग्रहों से बहुत दूर रहे—ये सब बातें अच्छी हैं, धर्मध्यान की हैं, किन्तु इसके साथ जो भेद लग रहा है क्या करना, कब करना, कैसे करना आदिक जो विकल्प साथ हैं, इस वजह से यह धर्मध्यान व्यवहाररूप धर्मध्यान हो जाता है और विकल्प किए बिना यह शुद्ध तत्त्व का आलम्बन सहज बने तो वह निश्चय धर्मध्यान की कोटि में हो सकता है।

**शुक्लध्यान**—यों ही शुक्लध्यान देखिये। शुक्लध्यान को कोई भी श्रमण बुद्धिपूर्वक विकल्प बनाकर नहीं करता है। जैसे धर्मध्यान को तो बुद्धिपूर्वक विकल्प बनाकर भी किया जा सकता है, पर व्यवहार शुक्लध्यान इसलिए कहा जाता है कि उसके प्रतिपादन में सुना ही होगा कि शुक्लध्यान का विषय बदलता भी रहता है। मनोयोग से, वचनयोग से, काययोग से बदल-बदलकर, विषयों को भी बदल बदल कर अथवा किसी विषय को किसी योग से मन की एकाग्रता से जो रागद्वेषरहित होकर ध्यान करना है वह है शुक्लध्यान। इसमें भेदपद्धति अपनाई है किन्तु इसमें जो लक्ष्य आया है उस लक्ष्य को ही ग्रहण करें, इस पद्धति से समझाये कोई तो उनके शुक्लध्यान कुछ समझ में आयेगा। जहाँ किसी प्रकार का विकल्प नहीं रहता है ऐसा निश्चय धर्मध्यान व निश्चय शुक्लध्यान से तो परिणत है उसे अन्तरात्मा श्रमण कहते हैं।

**उत्कृष्ट अन्तरात्मा**—साक्षात् अन्तरात्मा तो क्षीणकषाय भगवान हैं। 12वें गुणस्थान मेंसमस्त कषाय क्षीण हो जाते हैं, वह वीतराग प्रभु हैं, अरहंत भगवान सर्वज्ञ हो जाते हैं और अरहंत भगवान की स्थिति बहुत देर तक रहती है, इस कारण परमात्मा के रूप में लोग अरहंत को परखते हैं, पर यह क्षीणमोह भी भगवान है, जिसके रागद्वेष नहीं रहे वह प्रभु ही है। जो वीतराग गुणों के रुचिया हैं वे तो किसी स्थिति में वीतरागता की विशेषता देखते हैं तो उन सबको अरहंत के निकटवर्ती मानकर और अरहंत में व साधु में भेद न डालकर अपने गुणों की रुचि बढ़ाते हैं। रुचि के अनुसार गुणदृष्टि का गुण बढ़ जाता है। यह क्षीण कषाय भगवान जिन्होंने षोड्श कषायों का विनाश किया है उनके समस्त मोहनीय कर्म विलय को प्राप्त हुए और वास्तव में निश्चयत: ध्यान उनके ही उत्कृष्ट है। वह तो उत्कृष्ट अन्तरात्मा है और उस ही दिशा में जो श्रमण धर्मध्यान और शुक्लध्यान को करता है वह भी श्रवण उत्कृष्ट अन्तरात्मा है।

**केवलज्ञान से पूर्व सकल जीवों के ध्यान की दशायें**—इस जीव ने अब तक भी ध्यान तजा नहीं है। जब तक मुक्त अवस्था न हो अथवा जब तक अरहंत अवस्था न हो, तब तक ध्यान निरन्तर वर्तता है। अंतिम दो शुक्लध्यान तो उपचार से ध्यान माना गया है। जहाँ तक मन का सम्बन्ध है, मन की एकाग्रता का सहयोग है ध्यान वहाँ तक है और जिसके मन भी नहीं है किन्तु मन का जो कार्य है उसके सदृश संज्ञाएँ जहाँ तक है वहाँ भी ध्यान है। मिथ्यात्व अवस्था में इस जीव ने आर्तध्यान और रौद्रध्यान को अपनाया, इष्ट का वियोग हुआ पर खेद खिन्न रहा, अनिष्ट का संयोग होने पर विषादमग्न रहा, शारीरिक पीड़ावों में यह कराहता रहा।

निदान की आशाकर करके तो इसने अपने तन,मन सभी का बल खो दिया। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह इनके प्रकरण में मौज मानना, ऐसे खोटे ध्यानों के प्रताप से यह जीव जन्ममरण करता चला आया है। इसके सुबुद्धि उपजे, कुछ हित का यत्न बने और अपने आपके सहजस्वरूप की दृष्टि बने तो इस जीव का फिर वह समस्त अंधकार विलीन हो।

**इन्द्रियविजय के अभ्यास का प्रथम सहयोग**—कल्याण के अर्थ, इस परमावश्यक पुरुषार्थ की प्राप्ति के अर्थ अपना पहिला प्रयोग होना चाहिए इन्द्रियविषयों पर विजय।ज्ञान तो सर्वत्र साथ ही रहना चाहिए, पर चारित्र के मामले में, प्रयोग के सम्बन्ध में हमारा प्रथम आवश्यक कर्तव्य यह है कि इन्द्रियविषयों पर विजय प्राप्त करें।

**नियन्त्रण प्रयोग**—भैया ! एक थोड़ा यही प्रयोग करके देख लें, सामायिक में जाप देते समय आँखें खोल करके जाप किया जाता है तो उस समय कैसा मन रहता है और आंखें बंद करके जब जाप दिया जाता है तो उस समय कैसा मन भीतर में प्रवेश करने को उत्सुक रहता है? यह इन्द्रियविषयों पर संयमन करने का ही तो अन्तर है। देखना चार तरह से होता है। कोई दाहिनी आँख मींचकर केवल बायीं आँख से देखे, कोई बायीं आँख मींच कर दाहिनी आँख से देखे, कोई दोनों आँखें खोलकर देखे और कोई दोनों आँखों को बंद करके भी अंतरंग में कुछ देखते हैं। इसकी देखने की प्रकृति है, कुछ ढूँढने खोजने की प्रकृति है, इससे यह अंतरंग में कुछ खोजने लगता है। यही बात नय प्रमाण और अनुभव की है। कोई पुरुष व्यवहारनय की अपेक्षा तजकर केवल निश्चयनय से जानता है, कोई पुरुष निश्चयनय की अपेक्षा तजकर केवल व्यवहार से जानता है। कोई पुरुष दोनों नयों को सापेक्ष करके प्रमाणदृष्टि से जानता है, तो कोई पुरुष नयप्रमाण के सब विकल्प समाप्त करके केवल अपने अनुभव से जानता है, ज्ञानानुभूति का अनुभव करता है। जैसे यहाँ उन नय और प्रमाणों के दर्शन से भी अधिक महत्त्व अनुभव से परखने का है ऐसे ही हमारे प्रयोग में इन इन्द्रियों से परखने जानने का महत्त्व नहीं है, किन्तु इन्द्रिय का सहयोग तजकर केवलज्ञान के आश्रय से ही अनुभव करने का महत्त्व है।

**आत्मसामर्थ्य**—यह जीव जो कुछ करना चाहे, कर सकता है, इसमें सामर्थ्य है। पर को कुछ करना चाहे इसकी बात नहीं कह रहे हैं। अपने आपको जो कुछ करना चाहे, जिस रूप ढालना चाहे, अपने आपको जैसा बनाना चाहे यह बना सकता है। यह जीव मोह में आकर जब अनहोनी बात में भी अपनी कल्पना माफिक सफलता पा लेता है तो निर्मोहता का आदर करके होनी बात की क्या सफलता नहीं पा सकता है? धन कमाना, मकान बनाना, परिजनों की व्यवस्था करना—ये सब अनहोनी बातें हैं। इनसे मेरा सम्बन्ध नहीं है, मैं इन्हें कर नहीं सकता हूँ,फिर भी हम निरन्तर कल्पना बनाये रहते हैं तो कदाचित् जैसा चाहते हैं थोड़ा बहुत वैसा बाहर में मिल जाता है। यह तो अनहोनी के प्रसंग की बात कह रहे हैं। पर आत्मा का आनन्द, आत्मा का कल्याण और आत्मा को सदा संकटों से मुक्त हो जाना, ये सब तोहोनी ही बातें हैं। सीधी सुगम मेरे में ही ये बातें हैं, ये अनहोनी नहीं हैं। इस ओर यदि हम उपयोग लगाएँ, श्रद्धा बनाएँ, इनकी ही ओर लगन लायें तो क्या इनमें सफल न होंगे? सर्वाधिक सफल होंगे और नियम से सफल होंगे।इनमें अटक डालने वाली कोई बात ही नहीं है। अनहोनी की प्राप्ति में अटक तो पूरी ही जगी है, किन्तु यहाँ कुछ भी अटक नहीं है। हमारा श्रद्धान ही कमजोर हो तो वहाँ कार्य सिद्धि नहीं है।

**अपने यथार्थ कुल का बोध**—किसी भी परवस्तु को भिन्न जानकर, अहित जानकर, अत्यन्त भिन्न जानकर, उनका उपयोग हटाकर कुछ अपने आपमें विश्राम तो लें, कल्याण आपके साथ है, लेकिन दुनिया के मोही प्राणियों को देखकर यह जीव उन जैसी ही आकांक्षाएँ करने लगता है और अपने आपके उस सत्य आनन्द

पर विश्वास नहीं करता है। एक कथानक है कि महाभारत के समय एक स्त्री ने पति से कहा कि देखो लोग देश के काम आ रहे हैं, तुम हृष्टपुष्ट हो, तुम भी अपनी वीरता दिखावो और देश की सेवा करो। अर्थात् युद्ध में लड़ने चले जावो। वह पुरुष डरपोक था, वह कहता है कि युद्ध में तो लोग मारे जाते हैं, हम वहाँ न जायेंगे। तो स्त्री ने उसके सामने ही चने की दाल दरेती से दली और दलकर दिखाया कि देखो कुछ चने तो दलकर चूनी,भूसी बन गए हैं, किन्तु कुछ साबुत चने भी निकल आए हैं। तो वह पुरुष कहता है कि हम तो इन चूनीभूसी वालों की श्रेणी में हैं। जो साबुत चने निकल आए हैं उनकी श्रेणी में हम नहीं हैं। यों ही यह मोही प्राणी यह विश्वास नहीं लाता कि जिस पंक्ति के हमारे मोक्षगामी पुरुष थे उसही पंक्ति के हम हैं, किन्तु जो मोही जीव संसार में रुल रहे हैं, लाठियां सह रहे हैं फिर भी राग कर रहे हैं, विपत्ति विपत्तियां सहते जाते हैं, फिर भी मोह करते जाते हैं। वे यह अपना विश्वास बनाये हैं कि हम तो इन रुलने वाले मोही प्राणियों की ही श्रेणी के हैं।

**आत्मा की विशिष्ट कला**—इस जीव में बड़ी विशिष्ट कला है, किसी भी क्षण सारे रागद्वेष मोह की लड़ को काटकर सबसे न्यारा अपने आपको निरख सकते हैं। आखिर ज्ञानसाध्य ही तो बात है। कठिनाइ कहाँ है? स्वाधीन ही तो यह बात है। आत्मावलम्बन का कार्य पराधीन हो तो कहें कि क्या करें, जब भगवान की मर्जी हो तब हम तिरेंगे या कोई गुरु मुझे हाथ पकड़कर तिरा दे तो हम तिरेंगे। अरे ! भगवान की न तिराने की मर्जी है और न फँसाने की। वह भगवान हम जन्तुवों में कुछ दिमाग फँसाकर क्या पागल बना फिरेगा? वह तो समस्त विश्व का ज्ञाताद्रष्टा और स्वाधीन आत्मीय आनन्दरस में लीन रहा करता है। यदि कोई भगवान किसी दूसरे को पकड़कर तारने लगे तो वह अनेक बार असफल भी होगा। किसी को तार सके, किसी को न तार सके, किन्तु जो भक्तजन भगवान के उस शुद्धस्वरूप को निरखकर इस आदर्श के मर्म को परखकर अपने आपको उस स्वभाव में विभोर कर देते हैं उनके रंच भी संदेह नहीं, ये नियम से तिर जायेंगे।

**उपास्य श्रमण**—यह साक्षात् अंतरंग आत्मा शुद्धचैतन्य के प्रकाशरूप अपने इस अपूर्व आत्मा को नित्य ध्याता रहता है अर्थात् अपने इस शुद्ध ज्ञानस्वरूप को अभेदरूप से अनुभव करता रहता है। इन ध्यानों से जो रहित है, द्रव्यलिंगधारी है, द्रव्यश्रमण है वह बहिरात्मा है। अहो ! जो श्रमण निरन्तर निर्मल धर्मध्यान,शुक्लध्यान,अमृतरूपी समरस सागर में निर्मग्न रहता है, संसार के संताप हटाये रहता है उस योगी के भाव शरण को प्राप्त होते हैं। जो इन ध्यानों से विमुख है वह तो बहिरात्मा है, श्रमण नहीं है। श्रमणाभासों की उपासना तजकर श्रमणभाव की उपासना करनी चाहिए।

**अन्तरारत्मा बहिरात्मा का भेद जानने का प्रयोजन**—अहा ! शुद्ध ज्ञानानुराग में जब वह भक्त बढ़ जाता है तो उसे इस शुद्ध आत्मतत्त्व का ऐसा अपूर्वरस प्रकट होता है कि फिर उसको यह भी विकल्प नहीं आता कि यह अन्तरात्मा है और यह बहिरात्मा है। वह तो एक शुद्ध ज्ञानसामान्यस्वरूप की ही अवस्था रखकर उसकी भी भक्ति करता रहता है, कोई अन्तरात्मा बहिरात्मा का भेद ही भेद कहने जानने सुनने में लगता है तो उसे भी बहिरात्मा समझिये। तत्त्वज्ञान के लिए यह जानना आवश्यक है, मगर जिस प्रयोजन के लिए जानना आवश्यक है उस प्रयोजन को तो पाये नहीं, किन्तु केवल बकवाद और प्रतिपादन हो, वह इस अभेद चैतन्यस्वरूप की विराधना करता है। कल्याण के अर्थ हम सबका यह कर्तव्य है कि मोह को ढीला करें, ज्ञान में कदम बढायें और अपने आपके स्वरूप में अपना उपयोग लगाये रहने का यत्न करें।

## गाथा 152

पडिकमणपहुदिकिरियं कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।

हेण हु विरागचरिए समणो अब्भुट्ठिदो होदि।।152।।

**विरागचारित्र में अभ्युत्थान**—जो श्रमण निश्चय से प्रतिक्रमण आदिक क्रियावों को करता रहता है, अपने निश्चयचारित्र में प्रगतिशील रहता है वह श्रमण वीतराग चारित्र में अभ्युत्थित रहता है। इस गाथा में ऐसे परमतपस्वी का स्वरूप कहा गया है जो परमवीतराग चारित्र में रहा करता है। अभ्युत्थित नाम है अपने आपमें सब प्रकार से उत्कृष्टरूप से वर्तते रहने का। अभ्युत्थित में तीन शब्द हैं, अभि उत् और स्थित। अभि और उत् तो उपसर्ग हैं और स्थित 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' धातु में प्रत्यय लगाकर बनता है। स्थित का अर्थ है ठहर जाना, उत् का अर्थ है उत्कृष्टरूप से, अभि का अर्थ है सर्व ओरसे। अपने आपके आत्मप्रदेश में सर्व ओर से सर्वप्रकार उत्कृष्टरूप से ठहर जाना—इसका नाम है अभ्युत्थित।

**अपुनर्भव की आकांक्षा व प्रयत्न**—जो वीतराग श्रमण निश्चयप्रतिक्रमण आदिक क्रियावों में रहता है वह वीतराग चारित्र में ठहरा हुआ होता है। यह परमतपोधन समस्त ऐहिक व्यापारों से विमुख है, इस जीवनसम्बन्धी, इस लोकसम्बन्धी जो आरम्भ,परिग्रह आदिक चेष्टाएँ हैं उन सब चेष्टावों से दूर है। वह साक्षात् मोक्ष का आकांक्षी है, अपुनर्भव की स्थिति का ही अभिलाषी है। मोक्ष नाम छूट जाने का है। देह के बन्धन से, कर्म के बन्धन से छुटकारा होने का नाम मोक्ष है। अपुनर्भव नाम फिर से जन्म न लेने का है। न: पुन: भव:, ये तीन शब्द है। न का अ हो गया। फिर से भव न हो उसका नाम अपुनर्भव है। सिद्धि नाम शुद्ध यथार्थ केवल आत्मा की प्राप्ति हो जाना है। निर्वाण का अर्थ है समस्त विपत्ति, विडम्बना,संकटजाल इन सबका बुझ जाना, नष्ट हो जाना। जो पुरुष इस मोक्षस्थिति का अभिलाषी है वह पुरुष निश्चयप्रतिक्रमण आदिक सत् कार्यों को करता हुआ रहता है।

**निश्चय प्रतिक्रमण का अधिकारी**—निश्चयप्रतिक्रमण आदिक वही पुरुष कर सकता है जिसने समस्त इन्द्रियों का व्यापार त्याग दिया है। जो इन्द्रियविषयों का लोभी है वह निर्दोष आत्मतत्त्व में कहाँ ठहर सकता है? अपने आपमें रीते होकर बाहर में आशा बनाकर यह जीव इन्द्रियविषयों में तेज दौड़ लगा रहा है, यह अपने आपको भूल गया है, इसने समस्त इन्द्रिय व्यापारों को ग्रहण कर लिया है, कहाँ इसके निश्चयप्रतिक्रमण सम्भव है? प्रतिक्रमण का अर्थ है अपने आपके दोषों को दूर कर देना, यहाँ प्रश्न हो सकता है जब दोष दूर हो जाते हैं तब प्रतिक्रमण की क्या जरूरत है और प्रतिक्रमण फिर किसका नाम है? दोष दूर हो जाना, यह तो धर्म का फल है। दोष दूर कैसे किए जायें, इसका उपाय यह है कि आत्मा का जो शुद्धस्वरूप है, जिसमें किसी प्रकार के दोष नहीं हैं, ऐसे निर्दोष अंतस्तत्त्व का उपयोग करना, यही निर्दोष होने का उपाय है।

**शुद्ध कुल का स्मरण**—जैसे किसी बालक में सज्जनता और सभ्यता से रहने,उठने,बैठने का कारण यह बनता है कि उस बालक की यह बुद्धि बनी है कि मैं बड़े कुल का हूँ,सज्जन घराने का हूँ,मुझे ऐसा ही करना योग्य है और कदाचित् कभी वह बालक कुछ उद्दण्डता करता है तो समझने वाले लोग उसे यों ही समझाते हैं कि देख तू बड़े घराने का है, उच्च कुल का है, तुझे उद्दण्डता न करनी चाहिए, तो वह उद्दण्डता नहीं करता।

इसही प्रकार जोमुझमें रागद्वेष वर्त रहे हैंये मुझमें न आयें, इसका मूल उपाय यह है कि में अपने को दोषरहित समझ सकूँ। यह मैं आत्मा जो अपने स्वरूप से सत् हूँ,अपने स्वरूप के कारण केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ,इसका व्यापार केवल ज्ञाताद्रष्टा रहने का है, इसमें रागद्वेष कोई कलंक नहीं हैं, ऐसा अधिकाधिक उपयोग द्वारा स्वीकार करे तो ये दोष इसमें ठहर न सकेंगे।

**स्वभाव का आत्मसात्करण**—प्रतिक्रमण में यह साधक पुरुष अपने को शुद्ध ज्ञायकस्वरूप निरख रहा है। मैं तिर्यञ्च नहीं, मनुष्य नहीं, देव नहीं, नारक नहीं, मैं तो केवल जाननहार ज्ञायकस्वरूप हूँ,यह मैं अपने आपको सहज चैतन्यविलासमात्र ही अनुभव करता हूँ,मैं अपने को अमुक नाम वाला अथवा अमुक जाति कुल का नहीं पाता हूँ, हूँ ही नहीं मैं अन्य किसी रूप, ये सब परतत्त्व हैं, पौद्गलिक चीजें हैं, मायारूप हैं, मैं तो शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ,जो ऐसा स्वीकार करता है उसमें सम्मान,अपमान,विषय-कषाय इत्यादि कोई कलंक नहीं बस सकते हैं। निश्चयप्रतिक्रमण में व्यवहार क्रियाकाण्डों का कोलाहल नहीं है। भले ही विषयकषायरूप बाधा में सम्भावना तक ये बाह्य क्रियाकलाप चलते हैं और चलना चाहिए, किन्तु जिसकी दृष्टि केवल क्रियापलाप तक है, इस ओर दृष्टिनहीं है कि मुझे निर्विकल्प ज्ञायकस्वरूप का आश्रय लेना चाहिए तो उसके क्रियाकाण्ड मोक्ष का फल नहीं दे सकते हैं।

**शान्ति का एकमात्र उपाय**—प्रतिक्रमण का अर्थ है प्रतिक्रान्त कर देना, दूर हटा देना। यह आत्मा जो अनादिकाल से रागद्वेषों से सनता चला आया है उसे रागद्वेष हटाने के लिए पुरुषार्थ करना होगा, अपने स्वरूप का यथार्थ भान करना होगा। शान्ति का तरीका एक ही है, विभिन्न नहीं होते हैं और वह उपाय इस निर्दोष ज्ञायकस्वरूप शुद्ध परमब्रह्म का आश्रय है। इसको छोड़कर अन्य जितने भाव हैं उनमें यदि कोई शान्ति समझता है, सुख जानता है तो उसका अर्थ यह लेना चाहिए कि किसी विशिष्ट उपयोग के कारण कुछ बड़ी आकुलताएँ दूर हुई हैं। शान्ति तो वस्तुत: शान्त स्वभाव के आलम्बन बिना नहीं प्रकट होती है। जैसे किसी पुरुष के 104 डिग्री बुखार है और उतर कर 100 डिग्री रह जाय तो तबीयत का हाल किसी के पूछने पर वह कहता है कि अब तबीयत अच्छी है। वस्तुत: अभी बुखार है, पर उस बड़ी वेदना की अपेक्षा अब कम वेदना है इसे वह कहता है कि अब तबीयत अच्छी है, ऐसे ही यहाँ किसी को शान्ति नहीं है, पर वह शान्ति मानता है तो उसका मतलब है कि उसने किसी बड़ी आकुलता से विराम पाया है।

**आत्मा की प्रत्याख्यानमयता**—यह श्रमण एक शुद्ध अंतस्तत्त्व का अनुभव होने के कारण नित्यप्रतिक्रमणरूप रहाकरता है और जो प्रतिक्रमणरूप रहता है वह निश्चय प्रत्याख्यानरूप भी सदा रहता है। प्रतिक्रमण में जैसे अतीतदोष का स्वीकार नहीं है इस ही प्रकार इस भावना में यह भी भरा हुआ है कि मुझमें भविष्य में कदाचित् भी कोई दोष नहीं आ सकता है। यह मैं सदा काल ही ज्ञायकस्वरूप रहूंगा। यों भविष्य काल के समस्त दोषों का प्रत्याख्यान इस स्वभाव की आराधना करने वाले के सहज चल रही है। उसकी यह दृढ़ श्रद्धा है। जो चीज मेरे स्वरूप में नहीं है वह कभी भी मुझमें नहीं आ सकती है और जो मेरे स्वरूप में है वह कभी अलग नहीं हो सकता है। केवल उपाधिजन्य जो परभाव की भावभासना है उसे अपना यह उपयोग अंगीकार करता है तब इसकी विचित्र दशाएँ हो जाया करती हैं। वस्तुत: यह जीव न रागद्वेषादिक मलिनतावों से सहित है और न कभी हो सकेगा। ये पुराण पवित्र पुरुष अपने आपको सर्वत्र एकांकी ज्ञानस्वरूप ही निरखते रहे हैं। ये व्रत करें, ध्यान करें, सभी साधनावों में इनका लक्ष्य केवल एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप का आश्रय करना रहा है। व्यवहार प्रतिक्रमण में अतीत दोषों के छोड़ने की भावना की जाती है, किन्तु यह जानना कि सर्वस्थितियों में मूल औषधि,मूल आलम्बन अपने ज्ञानस्वरूप का आश्रय लेना है।

**श्रामण्यभाव**-इस श्रमण के समस्त जीवों में समता परिणाम रहता है, किसी के प्रति भी बैरविरोध की इसके भावना नहीं जगती है। यह श्रमण जो प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान करने में सफल हो रहा है उसका साधन है परमआलोचना। आलोचना नाम है जो नहीं है उसे अलग करना और जो है उसे ग्रहण करना। ऐसी ही दृष्टि का, चेष्टा का नाम आलोचन है। आँख से लोचन शब्द बना है। लोचन का अर्थ है आँख। आँख क्या करती है? जो बात नहीं है उसे हटा देती है और जो बात है उसे स्वीकार कर लेती है याने जो नहीं है उसे हटाती है और जो है उसे देखती है। यह आत्मतत्त्व अपने स्वरूप से अपने सत्त्व के कारण अपने स्वभाव में यह केवल निराकुल ज्ञानमात्र है। कर्मों के उदय का निमित्त पाकर होने वाले विभावों से यह आत्मतत्त्व न्यारा है, यह प्रज्ञा द्वारा छेदन हो रहा है। यद्यपि वर्तमान में विभावों का परिणमन इस आत्मा में तन्मयरूप से है फिर भी स्वभाव की दृष्टि करके निरखा जाय तो यहाँ भी भेद हो जाता है। इन समस्त विभावों से भिन्न अपने आपके ज्ञायकस्वरूप का आलम्बन करना सो आलोचना है। इस ही आलोचना के आधार पर निश्चयप्रतिक्रमण और निश्चयप्रत्याख्यान होता है।

**शुद्धनयप्रायश्चितरूप आत्मक्रान्ति**—भैया ! यह चल रहा है अन्तरंग चारित्र का वर्णन। यह ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानरूप परिणमता रहता है। इसका करना सब कुछ ज्ञान द्वारा होता है। यह तो अमूर्त ज्ञानप्रकाशमात्र है। तो इस निज ज्ञानस्वरूप में ज्ञान द्वारा ही वर्तते रहना, यही इसका काम है। इस निश्चय आलोचना में यह जीव अपने आपको समस्त विभावों से रहित निरख रहा है। यों भूत विषय और वर्तमान के दोषों से अत्यन्त दूर रहने वाले आत्मतत्त्व के निरखने में ये निश्चयप्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना के पुरुषार्थ होते हैं। कुछ इसमें क्रान्ति जगती है तो वह शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त का रूप ग्रहण कर लेती है। भेदविज्ञान के प्रबलसाधन से और शुद्धस्वरूप की प्रबल आराधना से इन क्रोधादिक विषयकषायों का निग्रह कर देना, दूर कर देना, यह हैनिश्चयप्रायश्चित। क्षमा से क्रोध को हटा देना, नम्रता से मान को खत्म करना, आर्जव से सरलता से कपट को दूर करना और निर्दोष आत्मस्वभाव के आश्रय से,संतोष परिणाम से लोभ को समाप्त कर देना, यह है शुद्धनय प्रायश्चित्त का क्रान्तिपूर्ण कदम।

**उत्कृष्ट बोध में निश्चय परमावश्यक**—जिस मुनि के परम उत्कृष्ट बोध होता है, जो अपने चित्त को अपने उपयोग में जोड़ता है उसके यह प्रायश्चित्त स्वयं होता है। इसमें आत्मस्वरूप का तो आलम्बन है और समस्त परभावों का परिहार है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से अपने आपके स्वरूप में निश्चल स्थित होना इसमें सब अपराधों का प्रायश्चित्त हो जाता है। यों यह श्रमण निश्चयप्रतिक्रमण आदिक षट् क्रियावों के द्वारा अपने आपको उपयोग में ठहराता हुआ रह रहा है और ऐसी वर्तना ही निश्चय परमावश्यक है। निश्चय से परमार्थ से,मेरे करने योग्य काम क्या है, इसके वर्णन में कहा जा रहा है अपने दोषों को दूर करना और गुणों का स्वीकार करना यही है परमावश्यक काम। इस परमावश्यक काम के फल में इस जीव के परमसमता प्रकट होती है और समतापरिणाम में ही परमनिर्वाण की योजना बसी हुई है।अपने आपके शुद्धस्वरूप का मनन कर लेना, यही है परमभक्ति। इन सब सत् क्रियावों का फल सर्वसंकटों से पृथक् हो जाना है। जो पुरुष निश्चयप्रतिक्रमण आदिक सत् क्रियावों को करता हुआ रहता है उस पुरुष का वीतराग चारित्र में ठहरना हो जाता है। अपने स्वरूप में विश्राम ले लेना यह ही वीतराग चारित्र है।

**स्वरूपविश्राम का पुरुषार्थ**—स्वरूप में विश्राम लेने वाला पुरुष भेदविज्ञान की छेनी से इन रागादिक भावों से अपने को न्यारा करता है, फिर उस निजस्वरूप में निज उपयोग को बसाता है। उस समय इसकी एक अभेद स्थिति होने लगती है। ध्यान, ध्याता, ध्येय का भी विकल्प नहीं रहता, गुण गुणी की भी कल्पना नहीं रहती।

जैसे धर्मादिक द्रव्य परिणमते हैं, परिणम रहे हैं ऐसे ही यह पवित्र आत्मा भेदभाव न लेकर अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप मेंस्थित रहता है। यों स्वरूप में विश्राम लेने रूप परमवीतराग चारित्र में यह परम तपोधन ठहरता है, इसके ही निश्चय से परम आवश्यक काम होता है। जिस पुरुष ने मोह को दूर किया है, दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों प्रकार की बेहोशियां जिसके नहीं रही, जो अपने ज्ञानस्वरूप में सजग निरन्तर समरूप से बना रहता है वह आत्मा संसार को उत्पन्न करने वाले, संसार भव से उत्पन्न होने वाले जो इन्द्रिय सुख हैं, काल्पनिक विषय सुख हैं उनसे हटा हुआ है और उन सुखों के कारणभूत इन पुण्यकर्मों से भी हटा हुआ है। जो क्रियाकाण्डों से निवृत्त हुआ केवल एक ज्ञानक्रिया को करता है वह निर्मल चारित्र में स्थित है।

**परमगुणग्रहण**—यह आत्मा ज्ञान का पुञ्ज है और इसका ज्ञानरूप ही वर्तते रहने का स्वभाव है इस कारण चारित्र का भी पुञ्ज है। जो पुरुष इस समतारस को निरन्तर विकसित करता रहता है, इस समरस पान से निरन्तर तृप्त रहा करता है ऐसे योगीश्वर महात्मा को हमारा भावपूर्वक वन्दन हो। हम जितना गुण ग्रहण का भाव रक्खेंगे उतना ही हम उन्नत हो सकेंगे। दोषग्रहण का भाव रखकर अपने उपयोग को दूषित करने में कोई लाभ नहीं है। योगी श्रमण निरन्तर अनुग्रहण करने में ही निरत रहा करते हैं। अभेद चैतन्यस्वभाव भी एक परमगुण है, इसकी दृष्टि में यह परम आवश्यक कार्य हो रहा है जिसके प्रताप से यह समस्त संकटों से अवश्य ही दूर होगा।

## गाथा 153

वणयमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चखाण णियमं च।

आलोयण वणयमयं तं सव्बं जाण सज्झाउं।।153।।

**परमावश्यक का दिग्दर्शन**—आत्मा को आनन्दमय अवस्था में धारण करना सो आत्मा का उद्धार है। आत्मा के उद्धार के लिए निश्चय से क्या करना चाहिए? उसका दिग्दर्शन करने के लिए यह निश्चय परम आवश्यक अधिकार कहा जा रहा है। कल्याणार्थी पुरुष को समस्त अनात्मतत्त्वों से दृष्टि हटाकर देह, सम्पदा, रागादिकभाव, कल्पना—इन समस्त परभावों से दृष्टि हटाकर एक शाश्वत अविकार ज्ञायकस्वरूप चित्स्वभाव में दृष्टि रखना चाहिए और यहाँ ही अपना उपयोग स्थिर रखना चाहिए, यही है आवश्यक काम।

**वचनमय प्रतिक्रमणादिक की स्वाध्यायरूपता**-निश्चय आवश्यककाम का लक्ष्य रखते हुए जो मन, वचन, काय की चेष्टा होती है वह व्यवहारिक आवश्यक कर्तव्य कहलाता है। उन व्यवहारिक आवश्यक कर्तव्यों में जो प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, नियम और आलोचना की जाती है वह वचनमय ही तो होगा। यहाँ इस परमआवश्यक के प्रसंग में यह बता रहे हैं कि वचनमय जो प्रतिक्रमण है, प्रत्याख्यान है, नियम है, आलोचना है इन सबको स्वाध्याय कहते हैं। प्रतिक्रमण का अर्थ है लगे हुए दोषों का निराकरण करना। प्रतिक्रमण रोज सुबहशाम किया जाता है और फिर पक्ष में एक बार किया जाता है, फिर चार महीने में इकट्ठा प्रतिक्रमण किया जाता है, फिर एक वर्ष में एक बार एक वर्ष के दोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है और फिर अंत में मरण के समय में समस्त जीवन में लगे हुए दोषों के निराकरण के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है। उन प्रतिक्रमणों में वचनों से

कहना कि मैंने अमुक अपराध किया, अमुक दोष हुआ, यह मिथ्या हो, दूर हो, इस प्रकार वचनों से प्रतिक्रमण को कहना इसे स्वाध्याय बताया गया है।

**स्वस्वचनमय धार्मिक प्रकरणों की स्वाध्यायरूपता**—वचनों से जो कुछ कहा जा रहा है उसे अंतरंग में रख लेना सो तो वास्तविक प्रतिक्रमण है। जैसे कोई पूजन रोज-रोज करता है, दर्शन और स्तुति पढ़ता है रोजरोज,तो उस दर्शनपूजन में जो कुछ कहा जा रहा है, प्रभु के गुणों का जो गान किया जा रहा है, हे प्रभु ! तुम वीतराग हो, सर्वलोक के जाननहार हो, तुम शुद्ध हो, समस्त संकटों से दूर हो, जो कुछ कहा जा रहा है उस रूप निरखने का उपयोग सो तो है वास्तविक, पूजनदर्शन और केवल वचनों से कह लेना यह स्वाध्यायमात्र है। जैसे ग्रन्थ में पढ़ लिया वह स्वाध्याय है, इसी प्रकार पूजनस्तवन इनका भी मुख से पढ़ लेना सो स्वाध्याय है।

**प्राकरणिक शिक्षण**-इस गाथा में, इस प्रसंग को कहने का प्रयोजन यह है कि कल्याणार्थी पुरुष को परमावश्यक कार्य करने के लिए सर्व प्रकार के वचनों का व्यापार छोड़ना चाहिए। जैसे किसी कार्य के प्रसंग में लोग कहते हैं—अब यह बात करना तो छोड़ दो, काम शुरू करो। जैसे सभा सोसाइटी में जब प्रस्ताव बड़े-बड़े रक्खे जाते हैं तो कोई लोग यह भी प्रस्ताव कर बैठते हैं कि प्रस्ताव तो बहुत हो चुके, किन्तु अब इनको अमल में लेना चाहिए। ऐसे ही जो हमारे कल्याण के लिए आवश्यक कर्तव्य हैं—पूजन, वंदन, स्तवन, प्रतिक्रमण, आलोचना आदिक। वे सब वचनमय ही नहीं रहें, किन्तु उनका असली रूप होना चाहिए। जो असलीरूप होता है उसमें फिर वचन नहीं रहते हैं। जब तक वचन बोले जाते हैं वे वचन ही हैं, अतएव परमआवश्यक के प्रसंग में समस्त वचन व्यापारों का निरोध किया गया है।

**कर्तव्य प्रवर्तन**—आवश्यक कर्तव्य में, व्यवहार में यह सब किया जाता है। प्रत्येक कल्याणार्थी पुरुष अपने निर्यापक आचार्य के शासन में रहा करता है। आचार्य दो प्रकार के होते हैं—एक दीक्षादायक आचार्य और एक निर्यापक आचार्य। जो दूसरे को दीक्षा दे, व्रत दे वह तो है प्रवज्यादायक आचार्य और यह ही आचार्य निर्यापक भी होता है। निर्यापक का अर्थ है उसके व्रत को निभा देना। कोई कभी दोष होता है तो आचार्य से आलोचना करना, उसका दोष दूर कराने के लिए प्रायश्चित्त देना, यह निर्यापक का कार्य होता है, पर कभी दीक्षादायक आचार्य न हों, उनका संग न मिले, उनका स्वर्गवास हो जाय अथवा दूर देशान्तर वियोग हो जाय तो किसी योग्य श्रमण को निर्यापक आचार्य चुन लिया जाता है और उनके शासन में अपना व्रतपालन किया जाता है। यह सब व्यवहार में करना आवश्यक है। निर्यापक आचार्य के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना, उनके समक्ष प्रतिक्रमण करना, ये सब आवश्यक कर्तव्य हैं। निर्यापक आचार्य के मुख से जो वचन निकले उसे ग्रहण करना व उसका पालन करना यह भी आवश्यकहै। निर्यापक के आदेश का पालन करना समस्त पापों के क्षय का कारणभूत है, किन्तु केवल एक वचनों की ही बात रह गयी तो यद्यपि वह भी काम किया जाता है, किन्तु साधारणरूप से जो स्वाध्याय करना है वह जितना फल देता है उतना ही फल उस वचनमय प्रतिक्रमण आदिक से मिलता है।

**शुभ और शुद्ध प्रयत्न**—भैया ! श्रमण के विषयसाधनों से पूर्ण उपेक्षा हो गई, कहाँ मन रखे अब? शुभभाव होगा कुछ अंतरंग में कर्तव्य का ध्यान रहेगा, पर वह सब स्वाध्याय है। वचनमय व्यवहारप्रतिक्रमण आदिक में जो कुछ करना चाहिए, उपयोग द्वारा अन्तर में करने लगे वह है परमावश्यक और निश्चयप्रतिक्रमण। समस्त श्रूत वचनरूप है, प्रतिक्रमण आदिक के पाठ भी द्रव्यश्रुत में आये हैं और उस द्रव्यश्रुत को वचनों से वह बोल रहा है यों वह स्वाध्याय ही कर रहा है, उसे अपने अमल में उतारें। उपयोग में उसे लिया जाय तो वे

निश्चयप्रतिक्रमण आदिक हो जाते हैं। ये सब बोलना तो वचनवर्गणा के योग्य जो पुद्गल द्रव्य हैं उनका परिणमन है। वे शब्द परमार्थत: बाह्य नहीं हैं, किन्तु आत्मभाव, जिसको आश्रय लेने से समस्त कर्म और बन्धन कट जाते हैं, वह आत्मतत्त्व ग्रहण के योग्य है।

**प्रत्याख्यान और आलोचना**—प्रत्याख्यान नाम है त्याग करने का। अब आगामी काल में मैं ऐसा न करूँगा, इस प्रकार का वचनव्यवहार प्रत्याख्यान पाठ का स्वाध्याय है, उस प्रकार का जो परिणाम करना है उसका नाम है परमप्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान करने लगे और उसे भी निश्चयरूप से करने लगे, बाह्य वस्तुवों का विकल्प तोड़कर निर्विकल्प शाश्वत आत्मस्वभाव में अपना उपयोग रत करे, यह है वास्तविक याने शुद्ध निश्चयत: प्रत्याख्यान। त्याग सम्बन्धी निश्चयों को वचनों से कहना उसका नाम वचनमय नियम है।'मैं यह नियम करता हूँ'ऐसा वचनों से बोलना यह तो स्वाध्याय का रूप है। बोल देने पर उसे अमल में लेवे वह है निश्चय नियमपालन और परमआवश्यक में यह नियमपालन शुद्धनिश्चय से एकरूप है। यों ही आलोचना, गुरु के सम्मुख वचनों से बोल देना वह स्वाध्याय है। हृदयभीने भाव से कहा गया तो यह स्वाध्याय का एक विशिष्ट रूप है, जिसमें उपयोग भी लगा और उस दोष का निराकरण किया तो उस प्रसंग में दोषरहित शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का दर्शन हुआ, लक्ष्य हुआ, उसकी ओर ही झुकाव हुआ तो वह नियमपालन होने लगा। वचनमय जो आलोचन होता है वह भी स्वाध्याय है।

**परमकर्तव्य शिक्षण**—इस प्रसंग में यह शिक्षा लेनी है कि हम धार्मिक विषयों से सम्बंधित जितने भी व्यवहारवचन करें, केवल बोलकर तुष्ट न हों, हमारी दृष्टि पालन में होनी चाहिए, उस व्यवहार में शान्ति करके हम उसके पालन में लगें। ये सब पौद्गलिक वचनमय हैं भक्ति पाठ आदिक करना है,वह सब स्वाध्याय हैं। कोईकोई प्रभु की भक्ति के अर्थ जयवाद भी बोलते हैं—भगवान की जय हो, शांतिनाथ की जय हो, प्रभु को नमस्कार हो, धन्य हो प्रभु आदिक जो शब्द बोलते हैं, स्तवन पढ़ते हैं, जितने समय जो कुछ उच्चारण करते हैं, मुख से पाठ करते हैं, बारह भावना बोलते हैं उनकी दृष्टि करना, यह है भावना आदिक कार्य, परवचनों से बोला जाना भी तो स्वाध्याय है। स्वाध्याय भी केवल वचन बोलने का नाम नहीं है, स्वाध्याय में भी स्व का अध्ययन होता है। अपने आत्मा के हित की दृष्टि से अपने आत्मा का स्पर्श करता हुआ पढ़ना सो स्वाध्याय है। ये सब पौद्गलिक वचन होने से सबके सब स्वाध्याय हैं। इस प्रकार हे शिष्य ! तू इन वचनव्यवहारों से भी आगे बढकर अन्तर में आकर अपने स्वरूप में अनुभव कर।

**उत्थान के लिये कैवल्य के आलम्बन की आवश्यकता**—जिसे मोक्ष के सुख की चाह हो उसे अपने आपको केवल अनुभव करना चाहिए। मोक्ष नाम है केवल रह जाने का। न शरीर रहे, न कर्म रहे,न आत्मा के विभाव रहें, तर्कवितर्क कल्पनाएँ रागादिक कुछ भी न रहें, केवल शुद्ध ज्ञाताद्रष्टारूप परिणमन रहे और केवल आत्मप्रदेश अबद्ध रहा करे उसका नाम मोक्ष है। उस मोक्ष में जो सुख मिला है, आनन्द का अनुभवन हो रहा है वह कल्पना का अनुभव है, केवल अपने आपके स्वरूप का वहाँ अनुभव है, यही आनन्दहै। तो कैवल्य का आनन्द पाने के लिए यहाँ भी तो कैवल्य दृष्टि होनी चाहिए। जो पुरुष अपने को केवल नहीं देखता है, देह को लक्ष्य करके कहता है कि यह मैं मनुष्य हूँ,अमुक परिस्थिति का हूँ,इस प्रकार से नानारूप अपने को मान रहा हो वह मोक्षमार्ग में नहीं है। अपने आपको अकेला अनुभव करोगे तोआनन्द मिलेगा। अपने को अकेला अनुभव करना यही शान्ति का मार्ग है अपने की किसी दूसरे रूप अनुभव करना—यह तो अशान्ति का मार्ग है और संसार में रुलने का कारण है। इस कारण सुखार्थी पुरुषों को अपने आपको अकेला निरखना चाहिए।

**अनात्मतत्त्व की उपेक्षा का शान्तिमिलन में पूर्ण सहयोग**—भैया ! इस समस्त जगत-जाल को, लौकिक वैभवसम्पदा को,इन समस्त समूहों को तृण समान जानो। जैसे किसी तृण से कुछ मेरा लाभ नहीं होता है ऐसे ही इन सबको तिनके के समान मानना है। जैसे आपके कोट पर कोई तिनका लगा हो तो उसे आप उपेक्षा करके उठाकर फैंक देते हैं, फिर उस ओर दृष्टि भी नहीं करते, इसी तरह एक आत्मस्वरूप को छोड़कर शेष जितने भी अनात्मतत्त्व हैं, परभाव हैं, परपदार्थ हैं वे सब भी इस आत्मा का हित नहीं कर सकते हैं। ये आत्महित करने में त्रिकाल असमर्थ हैं। अत: उपयोग द्वारा उन समस्त परपदार्थों की,परभावों की दृष्टि त्यागकर और उनको इस तरह त्यागकर कि फिर उनकी ओर देखने का अंतरंग में परिणाम न उत्पन्न हो, एक बार इस निज शुद्ध कैवल्यस्वरूप का अनुभव तो किया जाय। इससे आत्मा को शान्ति का मार्ग मिलेगा।

**अनन्तमहिम चैतन्य महाप्रभु की ओर ज्ञानी का आकर्षण**—यह आत्मस्वरूप निरन्तर नित्य आनन्द आदिक अतुल महिमा को धारण करने वाला है जिसने आत्ममहिमा नहीं जानी हैवह दूसरे जीवों को, दूसरे पदार्थों को चित्त से चाहकर उनका भिखारी बन रहा है, उनसे भीख मांग रहा है। इसे अपने आपकी इस अनन्त महिमा का परिचय नहीं होता है। जो महिमा प्रभु में पूर्ण व्यक्त हो गयी है उस महिमा को व्यक्त करने की दृष्टि ही इसकी नहीं होती है। यह पुरुष, यह निकट भव्य सर्वप्रकार की वचनरचना को छोड़कर ऐसा अपने आपमें उत्साह जगाता है कि मैं अबसे सदाकाल के लिए गुप्त, वचनों के अगोचर इस आत्मतत्त्व में ही ठहरूँगा। इस संकल्प के साथ इन समस्त परभावों से उपयोग हटाकर अपने में स्थित होता हे और सारे जगजाल को रागद्वेष, यश, प्रतिष्ठा, परिजन व्यवहार, इन समस्त जगजालों को त्यागकर परमविश्राम लेता है।

**स्वाध्याय के प्रकार**—इस गाथा में यह बताया गया है कि ये सब प्रतिक्रमण आदिक वचनरूप होने से स्वाध्याय कहलाते हैं। स्वाध्याय 5 प्रकार के कहे गए हैं। पहिला है परिवर्तन।पढ़े हुए पाठ को दुहरा लेना यह स्वाध्याय कहलाता है। जिसे अपन भी रोज-रोज करते हैं;स्तुति, पूजन अथवा किसी ग्रन्थ को बारबार दुहराना—ये सब परिवर्तन हैं। शास्त्र का व्याख्यान करना यह सब बांचना है।पढ़ लेना और उसका जो अर्थ है, मर्म है उसे भी उपयोग में लेते रहना यह सब बांचना है। पृच्छना, (पूछना) अथवा शास्त्र सुनना यह सब भी स्वाध्याय है। बड़ी हितबुद्धि से जिससे मुझे लाभ हो, मेरी शंकाएँ दूर हों, ऐसा नम्रतापूर्वक जो पूछना है कुछ भी,उसे भी स्वाध्याय कहते हैं। शास्त्र का सुनना यह भी स्वाध्याय है, शास्त्र को बांचना यह भी स्वाध्याय है और अनित्य आदिक बारह भावनावों का,अन्य भी तत्त्वों का बारबार चिन्तन करना सो अनुप्रेक्षा नामक स्वाध्याय है। महापुरुषों के, शलाका पुरुषों के चारित्र कहना यह धर्मकथा है, यह भी स्वाध्याय है, ऐसे 5 प्रकारों का जो स्तुति मंगल सहित शब्द वाचन है वह सब स्वाध्याय है। इस परिभाषा में वे प्रतिक्रमण आदिक के वचन भी गर्भित हो जाते हैं। यह चीज हमारे स्वाध्यायरूप रहे। स्वाध्याय का मार्ग है पर स्वाध्याय में जो लक्ष्य है स्वाध्याय का, स्व की दृष्टि, स्व में स्थिरता, उस और भी हमारा पुरुषार्थ होना चाहिए।

**धर्मपालन का अनुरोध**—हम यदि मोह ममता को हटाकर अपने आपमें शुद्ध ज्ञानस्वरूप अपने आपको निरखने का यत्न करते हैं तब तो हम धर्म का पुरुषार्थ कर रहे हैं, उससे हमें लाभ होगा, मोक्षमार्ग मिलेगा और अन्तरंग में वह पुरुषार्थ न लगे और ये वचनमय हमारे समस्त आवश्यक कर्म चलते रहें तो ये स्वर्ग आदिक सद्गतियां देने वाले हैं, साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है।धर्म और पुण्य में अन्तर है। धर्म है मोक्ष का कारण और पुण्य है स्वर्ग,सम्पदा,श्रेष्ठ मनुष्यजन्म आदिक सद्गतियों का कारण। पुण्य से सांसारिक समृद्धि मिलती है और धर्म से कैवल्य का आनन्द मिलता है। इसीलिए धर्म निरालम्ब है और पुण्य सालम्ब है। धर्म अपने

आपमें अपने द्वारा अपने आप होता है और पुण्य भी यद्यपि आत्मा का ही परिणमन है पर उसमें कोई परद्रव्य विषय रहते हैं। प्रभु के गुणों की ओरदृष्टि रखकर जो भक्ति,स्तवन होता है उसका नाम पुण्यकार्य है। पुण्यकार्य से भी परे होकर धर्मकार्य में लगें। इसके लिए यहाँ प्रेरणा दी गई है कि उस वचनमय व्यवहार से भी और ऊपर उठकर अपने आत्मा के स्वरूप में दृष्टि दें और उत्तम ध्यान करें।

## गाथा 154

जदि सक्कादि काटुं जे पडिकमणादि करेज्ज झाणमयं।

सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्बं।।154।।

**श्रमणों का कर्तव्य और श्रद्धान**—निश्चय से योगिराजों को क्या करना चाहिए? इस सम्बन्ध में बहुत कुछ वर्णन के बाद अब आचार्यदेव यह कह रहे हैं कि करने योग्य कार्य तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदिक ही हैं। यदि तेरी सामर्थ्य है तो तू इस ध्यानमय प्रतिक्रमण आदिक को कर, किन्तु यदि शक्तिहीन है, हीन संहनन का धारी है तो उसका श्रद्धान तो कर ही कर। इस गाथा में शुद्ध निश्चय धर्मध्यानरूप प्रतिक्रमण ही करना चाहिए, इस बात पर जोर दिया है।

**मुक्तिलक्ष्मीदर्शन की भेंट**—यह निश्चयप्रतिक्रमण आदि परमावश्यक पुरुषार्थ मुक्तिलक्ष्मी के प्रथम दर्शन करने के लिए भेंट की तरह है। जैसे किसी महापुरुष से प्रथम बार मिला जाय तो उस मिलने के समय में भेंट नजर की जाती है, इसी प्रकार मोक्षलक्ष्मी के दर्शन की तुम्हें भावना हो तो सर्वप्रथम तू अपने भेंट की तैयारी कर। जो भेंट नजर किया जायेगा वह भेंट है, शुद्ध निश्चयप्रतिक्रमण आदिक परमआवश्यक पुरुषार्थ। हे हितैषी श्रमण ! तुझे यह निश्चय कार्य ही करने योग्य है। तू अपने स्वरूप से बाहर कुछ मत देख। बाहर में तो सब कुछ तेरी बरबादी के ही साधन हैं। बाहर देखने में तू बाह्य पदार्थों में अपना उपयोग लगायेगा और कल्पनावश नाना विकल्प मचायेगा। उसमें तेरे स्वरूप का घात है, बाहर कुछ मत निरख।

**कुल का आदर्श**—हे श्रमण ! तू तीर्थंकरों के कुल का है। तेरे कुल में अनेक महापुरुष दिगम्बरी दीक्षा धारण करके अपने आत्मा के उपयोग को आत्मा में ही स्थित करके परमधाम निर्वाण को पधारे हैं, शुद्ध हो गए हैं। बाह्य पदार्थों की ओर दृष्टि मत दो। समस्त बाह्य पदार्थों को तू भिन्न,अहित,असार समझ। तेरे हित का साधन तेरे स्वरूप का ही आलम्बन है। निश्चय प्रतिक्रमण आदिक सत् कर्तव्य हैं। श्रमणजनों को यह शिक्षा दी जा रही है, मुनिजनों की यह बात है, किन्तु इस प्रकरण को सुनकर गृहस्थजन भी अपने पद के योग्य अपना कल्याण कर सकते हैं।

**श्रावक का श्रद्धान, ज्ञान व झुकाव**—जो करने योग्य काम है, उसका ज्ञान गृहस्थ और साधु के एक समान होता है। गृहस्थ और साधु में करने का अन्तर है, पर जानने, मानने, श्रद्धान करने का अन्तर नहीं है। जानने,प्रयोजनभूत बात को समझने की जितनी स्पष्टता साधु में है उतनी ही स्पष्टता गृहस्थ में भी होनी चाहिए। मोक्षमार्ग के प्रति, आत्मधर्म के प्रति जो श्रद्धान साधु का होता है वही श्रद्धान गृहस्थ का होता है। फर्क केवल आचरण का है। यह गृहस्थ व्यापार आदिक अनेक प्रसंगों में पड़ा हुआ है इसलिए यह करने में कमजोर है। जो तत्त्व समझा है उसको आचरण में लेने का यहाँ काम रहता है, किन्तु श्रमण चूँकि समस्त

आरम्भ और परिग्रहों से विरक्त हुए हैं, असंग हैं, नि:शंक हैं, केवल गात्र मात्र ही उनके परिग्रह है, सो उनको ज्ञानानुभूति करना, ज्ञानचर्चा करना आसान है, वे स्वरूप में उपयोग की स्थिरता को किया करते हैं।इस प्रकार आचरण में तो अन्तर हो जाता है, पर श्रद्धान और प्रयोजनभूत तत्त्वज्ञान इन दोनों बातों में जितना साधु है उतना ही गृहस्थ हो सकता है और होना चाहिए।

**मुक्तिप्राभृत**—भैया ! ज्ञान का काम जानन है। ज्ञान को अपना काम करने में अटक नहीं आती है। यह ज्ञान बेअटक जिस ओरचाहे पहुंचता है। यह ज्ञान बाह्य पदार्थों की ओर न जाकर अपने आपके अंत:चमत्कार में इन्द्रियों को संयत करके बाह्य पदार्थों की दृष्टि न करके अपने आपमें अंतरंग में कुछ खोजा जाय तो क्या जान नहीं सकता। जानेगा।अपने आपके अंत:स्वरूप को जानना और जानते ही रहना, यह है परमआवश्यक काम और यही है मुक्तिलक्ष्मी के प्रथम दर्शन के लिए भेंट। भेंट के बिना महापुरुष के दर्शन न करना चाहिए, होते भी नहीं हैं, फल भी नहीं मिलता है। तो मुक्तिलक्ष्मी के प्रथम दर्शन में यह साधक की भेंट है। भेंट में जैसे मूल्यवान् अनेक प्रकार के पदार्थ होते हैं वे सब पदार्थ मूल्यवान् होते हैं। इस ही प्रकार एक मोक्षमार्ग की दृष्टि से वह समस्त भेंट एक समान है लेकिन प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, शुद्धनिश्चयनय की ये सब क्रियाएँ नाना हैं। इन भेंटरूप निश्चयक्रियावों को हितार्थी पुरुषों को करना ही चाहिए।

**अन्त:पुरुषार्थ का महत्त्व**—हम धर्म के प्रसंग में अपना समय लगाते हैं, तन से श्रम करते हैं, वचनों से पाठ भी करते हैं, मन को लगाने का यत्न भी करते हैं, एक हार्दिक भावना से यह धर्म की लगन बने तो इसका लाभ भी उठाया जा सकता है। धर्म का लाभ वही पुरुष उठा सकता है जिसका अन्तरंग में यह शत् प्रतिशत निर्णय है कि यह परिजन,धन,वैभव,यह देह,सभी के सभी अत्यन्त भिन्न हैं, इनसे मेरा रंच भी नाता नहीं है। यह तो सब बखेड़ा है, जितने दिन जी रहे हैं उतने दिन मिल रहे हैं। जब दो में से कोई बिछुड़ जाता है तब पता पड़ता है कि ओह ! कोई न था मेरा, ध्यान में तब आता है। अरे ! जो ध्यान में पीछे आयेगा कि कुछ भी न था मेरा, वह ध्यान पहिले से रहे तो कुछ जीवन भी सफल हो जायेगा। आखिर अंत में मानना तो पड़ेगा ही। स्ववश न माने, परवश माने, पर अपनी श्रद्धा से स्ववश ही पहिले से मान लेवे तो उसका भला हो जायेगा। अरे ! दिन रात के 24 घंटे तो हैं उनमें यदि दस पाँचमिनट एक सच्चाई के पथ पर चलने का आग्रह करके उद्यम करें अपने आपको केवल समझने के लिए तो कौनसा बिगाड़ हो गया। रातदिन तो सम्पदा और परिजन के विकल्प तो लादे हुए हैं। उनसे कौनसा सुधार हो जायेगा? सर्वविकल्पों को छोड़कर केवल एक अपने को असहाय निरखकर आत्मा के ध्यान में ही समय व्यतीत किया जाय तो यह जीवन भी सफल हो जाय।

**संगप्रसंग में आत्मविघात**—लोग कहते हैं कोयले की दलाली में काला हाथ। अरे ! कोयले की कोठरी में तो काला हाथ होता है, उनसे तो कुछ टके मिल जाते हैं, पर इन सांसारिक समागमों से लाभ कुछ नहीं मिलता है। यहाँ जिन्दगी से जिये, मोह बढ़ाया और सब बिछुड़ गए। सभी लोग अपने-अपने मोह की करतूत के माफिक पापबंध करके जिस-जिस कुगति में उत्पन्न होते हैं उनका दु:ख भोगना पड़ता है, सहाय कोई नहीं होगा। जब यह जीव नरकगति में जन्म लेता है तब यह पछताता है। जिस कुटुम्ब के कारण जिस इज्जतप्रतिष्ठा के लिए, धनसम्पदा के लिये अन्याय किया, पाप किया,मिथ्याचार किया वे सब बिछुड़ेंगे। उनमें से आज कोई साथी नहीं है। ये सारे क्लेश उसे अकेले ही भोगने पड रहे हैं। किसका विश्वास करते हो? अरे दस-पाँच मिनट अपना हृदय शुद्ध बनावो और किसी भी परवस्तु में ममता न लावो। नाते की रस्सी को एकदम काट दो, यह निर्णय रक्खो कि मेरा किसी से रंच भी सम्बन्ध नहीं है, सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूप

में परिपूर्ण हैं, किसी पदार्थ का किसी अन्य पदार्थ से, न द्रव्य, न क्षेत्र, न काल, न भाव किसी भी दृष्टि से सम्बन्ध नहीं है। अपने को अकेला तको उत्कृष्ट आनन्द जगेगा। अपने को शुद्ध ज्ञानमात्र निरखो, मोह में कुछ न पा सकोगे। अपने आपको अकेला निरखने में तू अलौकिक चमत्कार पा लेगा।

**कलिप्रभाव**—हे श्रमण ! करने योग्य तो कार्य केवल आत्मध्यान ही है। इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मा के ध्यान से प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान,आलोचना समस्त सत्क्रियाएँ गर्भित हैं। यह ग्रन्थ पंचमकाल में बना हुआ है। इसमें तत्त्व तो जिनेन्द्रदेव का ही है, किन्तु ग्रन्थ उस समय का बनाया है जिस समय में श्रमणों की शक्ति हीन हो जाने से, शरीर का संहनन कमजोर होने से मुक्ति का मार्ग न रहा था, साक्षात् मोक्ष का लाभ न होता था। आचार्यदेव थोड़ा खेद के साथ कह रहे हैं—हे मुने ! करना तो यही चाहिए एक अभेद आत्मध्यान, लेकिन संहनन की शक्ति कमजोर है, तब हे श्रमण ! यद्यपि भाव से तूने तो अपनी तैयारी में कोई कसर न रख रखी है, पञ्चेन्द्रिय के विषयों से तू अत्यन्त दूर है, शरीर मात्र ही तेरे साथ परिग्रह रह गया है,बड़ी सच्चाई ईमानदारी से तू अपने आत्मकल्याण में जुटा है लेकिन संहनन की हीनता में यह उत्कृष्ट ध्यान नहीं हो पाता है, साक्षात् मोक्ष का लाभ नहीं मिल पाता है। तू इतना तो दृढ़ता से ही कर कि उसका पूर्ण श्रद्धान रख और जितनी शक्ति है, जितना पुरुषार्थ है, बल है उसे लाभ की ओरलगा।

**आत्मा का पर से पार्थक्य**—भैया ! यह जीवन विनश्वर है। प्रतिक्षण हम मरण के निकट पहुंच रहे हैं। कोई पुरुष 50 वर्ष का हो गया, इसका अर्थ यह है कि जितना जीना था उसमें से 50 वर्ष निकल गए।अब थोड़ी आयु रह गयी है। जो कुछ आयु रह गयी है वह भी शीघ्र व्यतीत होगी। दूसरों को भी तो इसने देखा है वे पैदा हुए, जल्दी समय बिता गये, गुजर गए। वही हाल हमआपका भी होने को है। रहा सहा शेष यह थोड़ा समय भी किसी प्रकार व्यतीत करना है। परिजन में रागभरी बातें बढ़ा-बढ़ाकर व्यर्थ ही अपने मन को बिगाड़कर इस ही प्रकार बरबाद करना है क्या? ऐसा बरबाद करने के बाद भी तो तू यहाँ न रहेगा। तेरा यहाँ किसी से भी रंच भी तो सम्बन्ध नहीं है।

**आनन्दनिधि निजप्रभु से आनन्दविकास**—भैया ! आनन्द तो आनन्द के निधान इस निजस्वरूप में बसने से प्रकट होता है। वह आनन्दनिधि का आत्मप्रभु इतना बिगड़ गया है कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जैसे विकट नाना शरीरों में भी आज फँसा है। अपने आपके अंत:स्वरूप में प्रवेश नहीं कर पा रहा है। इतनी बन्धनदशा होने पर भी जो भी जिसे सुख हो रहा है, वैषयिक सुखों के बहाने ये आनन्द की ही किरणें मलिन बन-बनकर प्रकट हो रही हैं। यह सुख विषयों से नहीं निकल रहा है, भोजन, वस्त्र, परिजन ये जुदे पदार्थ हैं, जो दिख रहे हैं इनमें आनन्द नाम का गुण भी नहीं है, फिर ये पदार्थ मुझे आनन्द कहाँ से देंगे? इनको सोचकर भी जो हम सुखी हुआ करते हैं वह मेरे ही स्वरूप का आनन्द मलिन बन-बनकर सुख के रूप में प्रकट होता है। कहीं बाह्य चीजों से सुख नहीं मिल रहा है। ऐसे अतुल आनन्दनिधान अपने प्रभु की उपेक्षा कर रहा है यह मोही जीव और स्वयं जो मलिन है, मिथ्यात्वअंधकार में ग्रस्त है ऐसे परिजन,वैभव इनकी ओरयह मोही जीव अपनी दृष्टि बना रहा है।

**वर्तमान श्रमण परमेष्ठियों का प्रतिबोध**—हे मुनि ! यद्यपि तू उत्कृष्ट परमजैनेन्द्र आगम की भक्ति में इतना लीन है जैसे कि कोई भंवरा मल के पराग का तीव्र अनुरागी रहता है ऐसे ही तू भगवान के स्वाध्याय का, शास्त्रमनन का विशिष्ट अनुरागी है। तेरे में सब गुण उत्कृष्ट प्रकट हैं। सहज तुझे वैराग्य भी है। तुझे कोई सांसारिक सुख की कामना भी नहीं है, परद्रव्यों से तेरा उपयोग निवृत्त है, अपने आत्मद्रव्य में अपना उपयोग ही तू लगाये है लेकिन खेद की बात है कि यह शरीर संहननहीन है, यह काल अयोग्यकाल है, कमजोर

काल है, इस काल में अब और कुछ विशेष कार्य न हो सकेगा याने निर्वाण लाभ न हो सकेगा तो इस निज परमात्मतत्त्व का श्रद्धान ही दृढ़ बनाये रहो। इस प्रकार खेद पूर्वक आचार्यदेव परमभक्त श्रमणजनों को प्रतिबोधन कर रहे हैं कि श्रद्धा से तुम च्युत मत होओ। कितनी भी विकट प्रतिकूल परिस्थितियां आएँ तब भी तू अपने आपको यों ही निरख कि यह मैं शुद्ध ज्ञायकस्वरूप परम तत्त्व ही अपने लिए शरणभूत हूँ। यह शुद्ध ज्ञान और आनन्द के स्वभाव वाला है। ऐसे इस निश्चय परमात्मतत्त्व का तो श्रद्धान करना ही चाहिए।

**भवभयविनाशिनी श्रद्धान**—यह संसार असार है। यहाँ किसी भी पदार्थ में प्रेम करने से कुछ भी सार तत्त्व हाथ नहीं आता है। जितना पर की ओर उल्झोगे उतना ही अपने को रीता करके चले जावोगे। इस असार संसार में पापों से भरपूर कलिकाल का नाच हो रहा है। जहाँ जाते हैं वहाँ ही विषय-कषायों के प्रेमियों का झुंड नजर आता है। मोह,राग,द्वेष,छल,कपट,ईर्ष्या सभी अवगुण इस कलिकाल में नृत्य कर रहे हैं, ऐसे इस समय में निर्दोष जैनेन्द्रमार्ग में मुक्ति नहीं बतायी गई है, लेकिन खेद मत करो, अपने आपके आत्मा की ओर दृष्टि है तो तू मोक्षमार्ग में ही लगा हुआ है। विषाद की बात तो तब होती है जब तू अपने श्रद्धान से भी विचलित होता। इस काल में उत्कृष्ट अध्यात्म ध्यान नहीं बन सकता है, जिस ध्यान के प्रताप से अष्टकर्मों का नाश होकर सिद्ध पद अभी मिल जाय, लेकिन हे श्रमण ! तू अपनी बुद्धि को निर्मल बना। देख ! यह निज परमात्मतत्त्व की श्रद्धा भवभय का नाश करने वाली है। अब तेरे स्वरूप में भव ही नहीं है, तू भय किसका करता है? शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप अपने अंतस्तत्त्व में अपनी श्रद्धा बना, फिर डर किस बात का है? अब भव का नाश करने वाले निज परमात्मतत्त्व की श्रद्धा कर।

**अन्तस्तत्त्व के श्रद्धान का प्रभाव**—उक्त प्रकार से इस गाथा में कर्तव्य की बात तो एक आत्मध्यान ही है ऐसा बताया है। धर्म के लिए बाहर में तन, मन, वचन, काय की चेष्टाएँ इस देहदेवालय में रहने वाले इस परमात्मप्रभु की निर्मलता का अनुमान कराने वाली है क्योंकि ज्ञानी आत्मा से अधिष्ठित देह की क्रियायें जो होंगी ये शुभ ही होती हैं। करने योग्य कार्य तो अपने को शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप अनुभवने का है, ध्यान करो, भावना करो तो इस प्रकार की—मैं केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ,भावना अनेक बार की जाती है। ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपकी भावना निरन्तर बनायें तो जैसी भावना होगी तैसा अनुभव हो जायेगा। शुद्ध ज्ञान के अनुभव का यही उपाय है कि अपने को शुद्ध ज्ञानस्वरूप में ही अनुभव करते रहें, इस भावना के प्रमाद से इस ज्ञानतत्त्व का अनुभव भी होगा, जिस अनुभव के साथ सहजशुद्ध आनन्द प्रकट होगा और ये समस्त संसार के संकट दूर हो जायेंगे।

## गाथा 155

जिणकहियपरमसुत्ते पडिकमणादिय परीक्खऊण पुडं।

मोणव्बयेण जोई णियकज्जं साहये णिच्चं।।155।।

**मौनव्रतसहित प्रतिक्रमणादिकी साधना का सन्देश**—जो पुरुष साक्षात् अन्तर्मुख हैं अथवा साक्षात् अन्तर्मुख होने का विशिष्ट प्रयत्न कर रहे हैं, ऐसे परमयोगीश्वरों को कुन्दकुन्दाचार्यदेव यह शिक्षण दे रहे हैं कि जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि से प्रणीत परमसूत्र में जैसा कि प्रतिक्रमण आदिक का प्रतिपादन किया है उसको अपने

आपके अनुभव से परीक्षित करके मौन व्रत के साथ-साथ अपने व्रत की साधना करनी चाहिए। जो कुछ भी आत्मा के हित के लिए प्रतिक्रमण आदिक बताए गए हैं जिससे आत्मा को सुध होती है उन प्रतिक्रमणों को मौन व्रत सहित अथवा गुप्त ही गुप्त अपने आपमें धीरे से उतार-उतार कर आत्मसाधना करनी चाहिए। आत्मा को आनन्दमय बनाने में ये प्रतिक्रमण आदिक अमोघ साधन हैं। आत्मा भावात्मक है, स्वत: सहज यह ज्ञानस्वरूप है, केवल जाननहार रहे यह ही इसका परमार्थस्वरूप है, यह भाव स्वयं ज्ञानमात्र होने के कारण निर्दोष है। इसमें रागद्वेष,मोह आदिक संकल्पविकल्प कुछ भी नहीं है। शुद्ध होना है, इसका अर्थ यह है कि रागद्वेषादिक विकल्पों से दूर होना है।

**उपादान निमित्त की विपरीत खैंच में असिद्धि**—यदि कोई यह श्रद्धा रक्खे एकान्तत: कि मुझमें रागद्वेष विकल्प हैं ही नहीं तो वह शुद्ध होने का क्या प्रयत्न करेगा? रागद्वेष आदिक तो मुझमें हैं ही नहीं, इस एकान्त आशय में भी कल्याण का उपाय नहीं है।कोई यह माने कि रागद्वेष करने का तो मेरा काम ही है, स्वभाव ही है, उस पुरुष का भी रागद्वेष से हटने का अवसर नहीं है, किन्तु इस अनेकांतवाद में कि रागद्वेष मेरा स्वभाव नहीं है, लेकिन उपाधि का निमित्त पाकर मेरे हीश्रद्धा और चारित्र गुण के परिणमन ये मोहरागद्वेष होते हैं, मुझमें जब रागद्वेषमोहपरिणामों की व्यक्ति है तो शुद्ध पर्याय,जो सम्यक्त्व और चारित्र है,इसको व्यक्ति नहीं हो सकती है। रागद्वेषमोह परिणाम ने सम्यक्त्व और चारित्र का घात किया है, ये औपाधिक हैं, ये मिट सकेंगे। मैं स्वभावत: रागद्वेषमोह रहित हूँ। तो जैसा यह मैं स्वभावत: अपने आप ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ वैसा ही अपने को तकूँ, प्रत्यय में लूँ, ऐसा ही उपयोग बनाऊँ तो ये रागद्वेषमोह नियम से दूर होंगे। कोई ऐसी बाधक शक्ति नहीं है जो मैं वीतराग होने का उद्यम करूँ और कोई बाधा डाले। मैं ही खुद विकल्प बनाकर पर को आश्रयभूत करके बाधक बन रहा हूँ और निर्विकल्प स्वभाव का आश्रय करके खुद ही खुद का साधक हो सकूँगा।

**निर्दोष अन्तस्तत्त्व की आराधना में सिद्धि**-निर्दोष आत्मतत्त्व की साधना में भावी काल में भी दोष न आयेगा, यह है प्रत्याख्यान। निर्दोष आत्मस्वरूप की भावना में वर्तमान में भी आनन्द बरस रहा है और दोषरहित हो रहा है, यह है परमआलोचना। निर्दोष आत्मतत्त्व की भावना करके रागद्वेषादिक विकार भावों को हटाने का जो अंत:पुरुषार्थ और प्रयास चल रहा है,यही है शुद्ध प्रायश्चित्त। इस निश्चय परम आवश्यक सत् क्रियावों से ही निर्वाण प्राप्त होता है।

**अन्त:भान बिना द्रव्यभजन से अलाभ**—हम प्रभुमूर्ति के समक्ष प्रभु का भजन तो करते हैं, पर प्रभु क्या थे, उन्होंने क्या किया, अब क्या बने हैं, कुछ भी भान न करें, और केवल मातापिता का नाम लिया जाय, शरीर की लम्बाई, रंग जो कुछ तीर्थंकर के भव में भी था वैसा वर्णन करता जाय तो भी प्रभु का भजन तो ऊपर-ऊपर में किया, पर मर्म नहीं पाया। समय तो व्यतीत कर डाला प्रभु भजन में, पर स्वाद नहीं आ पाया। जैसे एक बात प्रसिद्ध है लोक में रावण के युद्ध के समय वानर सेना ने समुद्र को लांघ डाला, लेकिन उन वानरों ने समुद्र के रत्नों का परिचय तो नहीं पाया, ऐसे ही भगवान के भजनभक्ति में अपना समय तो निकाल देते हैं पर स्वाद नहीं आता।

**प्रभुभक्ति की पद्धति**—भैया ! प्रभु की भक्ति हम इसलिए करते हैं कि हमारी प्रभु की निकटता है, जो स्वरूप है वह मेरा स्वरूप है, प्रभु मेरे ही समान पूर्वकाल में ऐसी ही संसारपर्यायों को धारण करके लीला कर रहे थे। जैसे कि यह मैं प्रभु लीला कर रहा हूँ,क्लेश पा रहा हूँ। उन्होंने वस्तुस्वरूप का ज्ञान किया। ज्ञान का काम ही जानना है, उल्टा जानना बनावट से होता है। सीधा जानने से तो कष्ट भी नहीं है। प्रभु के शुद्ध ज्ञान प्रकट हुआ, निज को निज पर को पर जाना, परद्रव्यों से उपेक्षा हुई, ज्ञानानन्दस्वरूप निर्दोष इस आत्मतत्त्व

में वे जुड़े। उन्होंने उपयोग को जोड़ा, उसके फल में ये रागद्वेष आदिक दोष दूर हटे और भव-भव के संचित कर्मबन्धन भी अपने आप टले और अंत में देह से भी विमुख हो गए, यह है स्थिति प्रभु की, जिसका हम भजन पूजन करते हैं। उनके स्वरूप का स्मरण करके अपने आपमें भी उत्सुकता जगायें कि मैं क्या गीदड़ों की भांति मोहीजनों के संग में रहकर अपने को कायर बना रहा हूँ। अरे ! मेरा स्वरूप तो प्रभुवत् है, अनन्त ज्ञान का निधान है, उत्साह तो जगायें,इस व्यर्थ मोहकीचड़ को हटायें, अंतरंग में भीतर श्रद्धा बनाएँ। मेरा मात्र में ही हूँ,ऐसे इस अंतस्तत्त्व के भान सहित जो उपयोग को भीतर-भीतर लगाया जा रहा है वह है मोक्षपथ का गमन।

**जैनेन्द्र परमागम**—भगवान अरहंत देव ही इस समस्त आगम के मूल प्रणेता हैं। भगवान ही वास्तव में श्रीमान्हैं। श्री उसे कहते हैं जो अपने आपकाआश्रय ले। अपने आपके आत्मा का आश्रय अपना स्वरूप ही ले रहा है। अन्य पदार्थ तो सब मुझसे भिन्न हैं, ऐसे स्वरूप का विकास हुआ है श्रीमान्, अर्थात् अंतरंग ज्ञानलक्ष्मी से शोभायमान्।ऐसे परम श्रीमान् अरहंतदेव की दिव्यध्वनि से जो उपदेश निकले हैं, जिनमें समस्त पदार्थों का यथार्थस्वरूप निहित है उस दिव्यध्वनि को सुनकर गणधरदेव ने सब उपदेशों का प्रकरण बनाकर द्रव्यश्रुत की रचना की है। वह है द्वादशांग। यह परमागम चतुरंग है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग—ये चार इसके अंग हैं और यह परमागम द्वादशांग भी है। आचारादिक 12 अंग हैं। द्वादशांग भुजा वाला श्रुतदेवता यही है और चार हाथ वाली सरस्वती भी यही है।

**सरस्वती का स्वरूप**—लोग सरस्वती का स्वरूप बनाते हैं। एक विशाल तालाब के भीतर कमल पर विराजमान् सरस्वती देवी है जिसके निकट स्वच्छ हंस भक्ति करता हुआ बैठा है। इस सरस्वती के चार हाथ हैं, किसी हाथ में वीणा, किसी हाथ में माला, किसी हाथ में पुस्तक, किसी हाथ में शंख है। यह सब रूपक इस श्रुतदेवता का है। सरस्वती का अर्थ है 'सर: प्रसरणं यस्स सा सरस्वती'। सर: कहते हैं फैलाव को। तालाब भी भरा हुआ रहता है ना, इस कारण इसका भी नाम सर: बोला जाता है। जिसका बड़ा फैलाव हो उसे सरस्वती कहते हैं।फैलाव है विद्या का और इसके प्रथमानुयोग आदि 4 हाथ हैं। अध्ययन,भक्ति, संगीत, अनहद ध्वनि—इन चार उपायों के प्रतीक वे चार पदार्थ हैं।

**ज्ञान का प्रसार**—बतावो अच्छा,दुनिया में सबसे अधिक व्यापक पदार्थ कौन है? जो चीज सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हो वह अधिक बड़ी होती है। जो मोटी चीज हो वह बड़ी नहीं हो सकती है। ये मिट्टी,पत्थर,ढेला आदि स्थूल हैं और पानी इससे सूक्ष्म पदार्थ है। सो देख भी लो, इस पृथ्वी से भी पानी ज्यादा है। आज के भूगोल विज्ञानी भी मानते हैं कि दुनिया छोटी है, पानी का भाग ज्यादा है और सिद्धान्त से भी देख लो—जितना बड़ा स्वयंभूरमण समुद्र है उतना बड़ा असंख्याते अन्य द्वीप समुद्र मिलकर भी नहीं है। जो बचे हुए द्वीप समुद्र हैं उनमें भी आधा जल काअंग है, आधा पृथ्वी का अंग है। तब पानी तीनचौथाई से भी ज्यादा हो गया और पानी से पतली हवा है, तो पानी से भी अधिक दूर तक फैली हुई हवा है और हवा से भी सूक्ष्म आकाश है तो हवा तो तीन लोक में ही है पर आकाश इस लोकाकाश के बाहर भी है। जो चीज सूक्ष्म होती है उसका विस्तार बड़ा होता है।आकाश से सूक्ष्म ज्ञान है। यह एक भावात्मक चीज है, तो यह लोकाकाश और अलोकाकाश ये सब इसमें समाया हुआ है और फिर भी ज्ञान की महिमा, ज्ञान का विस्तार, योग्यता इतनी बड़ी है कि ऐसे-ऐसे असंख्यात भी लोक और अलोक हों तो उनको भी जान जाय।

**अपनी भूल से अपना घात**—अहो ! अनन्तज्ञान की कितनी अतुल निधि है हमारे आपके पास और इसको जलाये जा रहे हैं विषय और कषायों की ज्वाला में। न कुछ थोड़ासा द्रव्य पाया, हजारोंलाखों की

पूंजी पायी तो उसे अपना रहे हैं कि यह मेरा है, उसको ही दिल में रक्खे हैं। इससे हो रहे हैं कितने बड़े विकल्प? जिससे अतुल अनन्तज्ञान और अतुल आनन्द का घात हो रहा है, इसको यह मोही जीव नहीं देखता है।

**अज्ञान में बहक**—जैसे किसी पुरुष ने बहका दिया बच्चे को कि तेरा कान यह कौवा लिये जा रहा है तो बच्चा कौवेके पीछे बेहतासा दौड़ता है। लोग समझाते हैं कि अरे बच्चे ! कहाँ दौड़ रहा है? बच्चा कहता है कि ठहरो-ठहरो, अभी फुरसत नहीं है, मेरा कान कौवा लिए जा रहा है। अरे ! नहीं लिए जा रहा है, बेटा भाई कहना मानो।... नहीं बाबा हमसे तो बड़ेबड़े लोगों ने कहा है।... अरे !कहा होगा। जरा अपने कान टटोलकर तो देख लो। कान पर हाथ रक्खा तो देखा कि कान तो यहीं है, कौवा नहीं लिए जा रहा है। ऐसे ही यह जीव मोह की बहक में बहक गया है, मेरा सुख परपदार्थों में है। ये परपदार्थ मिटेंगे तो मेरा सुख भी मिटेगा। परपदार्थों के पीछे बेहतासा भागे जा रहा है।.... अरे ! कहाँ दौड़े जा रहे हो? यह उपयोग कहता है। तुम्हारी बात सुनने की हमें फुरसत नहीं है। मेरा सुख इन परपदार्थों में है, कहीं ऐसा न हो कि ये पदार्थ मेरे पास न रहें तो मेरा सुख नष्ट हो जायेगा। ज्ञानी समझाता है—अरे ! तेरा सुख परपदार्थों में नहीं है, क्यों बेहतासा भगे जा रहे हो? यह नहीं मानता है, अरे ! तो प्रयोग करके देख, सब परपदार्थों की आशा विकल्प तजकर, अपने में विश्राम पाकर तो अनुभव कर। इसने कुछ इन्द्रिय को संयत किया तो भीतर में ज्ञानानन्द निधि का दर्शन होने से समझ में आया कि ओह ! मेरा सुख किसी परपदार्थ में नहीं है, मैं ही सुखस्वरूप हूँ।

**साधना से सिद्धि—** परमशरण सहज शुद्ध आत्मस्वरूप का प्रतिपादन जिस परमागम में है उस परमागम में इस शुद्ध होने की विधि का वर्णन है, जरा शुद्धनिश्चयात्मक परमात्मतत्त्व का ध्यान तो कर, फिर देखो आत्मा का शुद्धविकास कैसे नहीं होगा? केवल अपने ही सत्त्व के कारण जो इस आत्मा का सहजस्वरूप है उसका ध्यान करो, यही है प्रतिक्रमण आदिक समस्त सत्कर्म। उनको जानकर फिर केवल इस ही निज महान् कार्य में निरत बनकर हे योगी पुरुषों ! अपने अभीष्ट शुद्ध आनन्द की साधना करो। जब तक शुभ,अशुभ समस्त वचन रचना का परित्याग न होगा, जब तक समस्त व्यासंग परिग्रह का परित्याग न होगा, तब तक इस अपने आपमें बसे हुए मूल्यवान् रत्न का परिचय न पा सकेंगे और फिर तुच्छ असार इन जड़ पदार्थों की आशा ही आशा बनाकर भिखारी ही रहेगा। समस्त परिग्रहों के व्यासंग को तजकर अपने आपको केवल अकेला अकिञ्चन ज्ञानप्रकाशमात्र अनुभव करके मौन व्रतसहित होकर मन, वचन, काय की चेष्टा न करके एक इस निर्वाण की साधना करो, आत्मतत्त्व की साधना करो।

**निन्दा की उपेक्षा के बिना बाधा**—देखो,कुछ मोही लोग बहकायेंगे तुझे, ये अज्ञानी जन तेरी निन्दा भी करेंगे, कायर हो गया है, कुछ दिमाग क्रैक मालूम होता है, घर को छोड़कर यों चल दिया। छोटे बच्चों की भी सुध न रक्खी। क्या कर रहा है यह, यह अकेला जंगल में ठूठसा बैठा है, अज्ञानी जन निन्दा भी करेंगे, तेरे इन सत्कार्यों के प्रति पर तू बहकावे में मत आ जाना। यदि तूने मोही जीवों की रागद्वेषभरी वाणियों पर कुछ ध्यान दिया तो तू चिग जायेगाऔर पवित्रमार्ग से गिर जायेगा।

**मतिनाशकों के प्रसंग का भाव**—एक आदमी बहुत बुढ़िया बकरी लिए जा रहा था। वह बड़ी पुष्ट बकरी थी दूध देने वाली। चार ठगों ने देखा कि यह बकरी बहुत पुष्ट है, दूध देने वाली है, कोई उपाय एक बनावो कि इसकी बकरी ले ली जाय। उन्होंने सलाह कर ली और अपनी सलाह के माफिक वे चार ठग आगे जाकर एक-एक मील की दूरी पर खड़े हो गए। बकरी लिए जारहा है यह। पहिला ठग बोला—अरे भाई ! यह कुत्ता

कहाँ से लाये हो। उसकी बात को उसने अनसुनी कर दी। एक मील बाद दूसरे ठग ने कहा—भाई ! तुम्हारा कुत्ता तो बड़ा अच्छा है तो उसे कुछ ध्यान में आया कि शायद यह कुत्ता ही हो। एक मील बाद तीसरा ठग मिला—वाह ! कुत्ता तो बहुत सुन्दर ले आये हो। तो अब उसे ख्याल हुआ कि यह कुत्ता ही हम लिए जा रहे हैं। एक मील बाद चौथा ठग मिला तो उसने कहा—अरे ! यह कुत्ता क्यों लिए जा रहे हो? उसको यह निर्णय हो गया कि यह कुत्ता ही है। बस उसे वहीं छोड़कर चला गया। वे तो यही चाहते ही थे, बकरी लेकर घर चले आए। तो अनेक कुबुद्धियों के बहकाने से भी सीधी बात उल्टी बन जाती है।

**प्रसंग के अनुसार बुद्धि की गति**—भैया! हम यहाँ सोचा करते हैं कि चित्त धर्म में क्यों नहीं लगता, ज्ञान में,ध्यान में यह मन क्यों नहीं जमता? अरे ! ज्ञानध्यान के साधकों में प्रीति हो, उनका सत्संग विशेष हो तो वहाँ भी मन चलेगा। रातदिन मोहियोंरागियों के संग में ही तो बसना पड रहा है। तो असर उन विकल्पों का होगा, ज्ञानध्यान की ओरकहाँ दृष्टि जायेगी? अज्ञानीजन निन्दा भी करें तो भी तू अपनी ही धुन में रहा कर, निर्वाण के सुख की साधना कर। ज्ञानी पुरुष मोक्ष की इच्छा रखने वाले कल्याणार्थी जन अज्ञानीजनों के द्वारा किए गए लोकभय से घबराते नहीं हैं। वे समस्त जगजाल से दूर होकर धनपरिजन सम्बन्धी मोह को तजकर सदा मुक्त केवल निज आत्मतत्त्व की सर्वप्रकार सिद्धि कर लेते हैं।

**परमात्मतत्त्व के आलम्बन की शिक्षा**—जो पुरुष अध्यात्मवाद में कुशल है, परमात्मतत्त्व के रहस्य का जानकार है वह मनुष्यों के द्वारा किए हुए भय से न घबराकर समस्त कल्पना,विकल्पजालों को तजकर इस ही एक आत्मपद को प्राप्त करता है, जो नित्य ही आनन्द देने वाला है। आत्मा का शाश्वत आनन्द एक इस आत्माश्रय से ही प्रकट होता है। जैसे मिश्री भीतर बाहर सभी ओरमीठी है, ऐसे ही इस आत्मप्रदेश के जितने भी विस्तार हैं, सर्वप्रदेशों में ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण घन स्थित है। केवलज्ञानमात्र अपने को अनुभव करने से अपना ज्ञानमात्र अनुभव बनता है और जब केवल ज्ञानमात्र ही अनुभव रहा तो वहाँ शुद्ध आनन्द प्रकट होता है। अपने कल्याण के लिए मोह को दूर करके इस निर्मोह शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप के जानने का भी पुरुषार्थ करना चाहिए।

## गाथा 156

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।

तम्हावयणविवादं सगपरसमयेहिं बज्जिज्जो।।156।।

**वचनविवाद के परिहार का आदेश**—पूर्व गाथा में यह बताया गया था कि जिनेन्द्रदेव के परमागम में संसारमुक्ति के लिए जो प्रतिक्रमण आदिक निश्चय पुरुषार्थ बताये गये हैं उन परमावश्यक कार्यों को मौन व्रत सहित साधते रहना चाहिये। ऐसा सुनकर यह एक जिज्ञासा होती है कि मौन व्रत पर जोर क्यों दिया गया है? उस जिज्ञासा के समाधानरूप यह वर्णन चल रहा है। लोक में नाना तो जीव हैं और नाना प्रकार के उनके कर्म हैं, नाना प्रकार की लब्धियां हैं, इस कारण साधर्मीजनों के भी साथ और परधर्मी जनों के साथ भी वचन-विवाद तज देना चाहिए। समस्त वचन-व्यापारों को तज देने में कारण क्या है, उसका इसमें उपन्यास किया गया है।

**वचनविवाद का परिहार करने का मुख्य कारण**—जब जीव नाना प्रकार के हैं और उनके कर्मों के उदय भी नाना प्रकार के हैं और उनके जानने की योग्यताएँ भी नाना प्रकार की हैं तब फिर विवाद से कुछ सिद्धि ही नहीं है, विवाद से फायदा क्या मिलेगा? उनसे वचन-विवाद करने में अपने को लाभ कुछ नहीं है। इस कारण से सबके ही साथ वचनविवाद को त्याग देना चाहिए। किसी भी प्रसंग में विवाद करना लाभदायक नहीं होता है। जो श्रमण अपने आत्मकल्याण के साधनों में निरत हो रहे हैं उनका तो यह कर्तव्य है कि जिस वचन में राग अथवा द्वेष बढ़े ऐसे वचन यदि धर्मचर्चा के भी हों तो भी त्याग देने चाहिये। अन्य वचनों की तो बात ही क्या?

**पर की संभाल में संभाल की असंभवता**—जगत् के जीव नाना तरह के हैं। इस प्रसंग में जीवों को नाना प्रकार के कहने का मर्म यह हे कि प्रत्येक पदार्थ में उनका अपने-अपने उदय के अनुसार परिणमन होता है और ये परजीव मुझसे जुदा परिणमन करने वाले हैं। सभी पदार्थ यदि एकसा ही परिणमन करने वाले रहें तो भी अपनीकुछ गुञ्जाइश निकाल सकते हैं कि भाई चलो इसके अनुकूल ही चलने लगें, किन्तु ये जीव तो नाना हैं और उनके परिणमन भी नाना हैं, तुम किस-किसके परिणमनों को संभालोगे? अपनी संभाल में ही सब संभाल होती है। दूसरे जीवों की संभाल करते रहने में कोई संभाल नहीं होती है। कैसे संभालोगे। जैसे जिन्दा मेंढकों को कोई तराजू पर तौलना चाहे तो कैसे तौल सकेगा? एक रक्खे तो दूसरा फुदक जायेगा, उससे भी कठिन जगत् के जीवों की संभाल करना है। उन्हें अपने मन के अनुकूल बनाना और प्रसन्न रखना, यह बहुत कठिन बात है। कठिन क्या असम्भव है, भले ही अपनी जैसी कषाय है वैसी ही कषाय दूसरे की मिल जाय, लेकिन ऐसी कषाय का मिलना कब तक रहेगा? सब जुदे-जुदे द्रव्य हैं, जुदी-जुदी परिणतियां हैं, भिन्न परिणमन हैं फिर तुम किसको अधीन बना हुआ कहोगे?

**स्वयं की संभाल से वास्तविक संभाल**—भैया ! खुद को ही यदि निर्मल बना सके, सदाचार रख सके तो जगत् के जीव भी तुम्हारे अनुकूल चल सकेंगे। पर खुद तो रहें शून्य, विषयकषायों से लदे हुए और चाहें कि दूसरे जीव इस तरह परिणम जायें, यों बन जायें तो यह असम्भव बात है। जीव नाना प्रकार के हैं। उनका परिणमन जुदा-जुदा है, तुम किसी के परिणमन के स्वामी नहीं हो। इस कारण दूसरों से वचनों का विवाद मत करो, अपनी-अपनी बात संभाल लो और अपनी संभाल के लिए जितना बोलना आवश्यक है उतना दूसरों से बोलो। धर्म की बात में भी धर्म की चर्चा करते हुए भी यदि ऐसी स्थिति आती है कि दूसरों को भी कुछ रोष होने लगे या अपने में ही रोष होने लगे तो तुरन्त बोलना बंद कर दो, धर्मचर्चा भी न करो,यदि रागद्वेष हो रहा है तो। अन्य वचनों की बात तो दूर जाने दो।

**विवाद का कारण अधर्मभाव**—धर्मचर्चा करते हुए जब कभी भी कलह विवाद होने लगता है तो उसका कारण धर्मचर्चा नहीं समझें, किन्तु धर्मचर्चा की ओट में अपने पक्ष की पोषणा का आशय है। मैं जो कहता हूँ वह ठीक कहता हूँ,ये जो चार आदमी सुन रहे हैं ये यह न महसूस करें कि हमारी बात गिर गयी। हम जिस बात का समर्थन करना चाहते हैं वह बात न गिर जाय, और कभी-कभी तो इस पर्यायबुद्धि में इतना बह जाते हैं कि मन से मान भी लेते हों कि मैं गलत बोल गया था, लेकिन जाहिर वह यही करेगा कि जो मेरा पक्ष है, जो मेरा कर्तव्य है वह ही यथार्थ है, रागद्वेष यहाँ तक बढ़ जाता है। धर्मचर्चा के मामले में भी यदि ऐसा द्वेष बढ़ता है तो इस प्रसंग में भी सधर्मी जनों को वचन-विवाद न करना चाहिए।

**दुर्विपाक कषाय**—धर्मचर्चा के प्रसंग में क्रोध होता है तो वह क्रोध उसका बड़ा अनर्थकारी है। धर्मप्रसंग में अभिमान करना सब अभिमानों से भी भयंकर है। धर्म के मामले में यदि छलकपट का परिणाम जगे तो

दुकान या अन्य व्यवहारों में जो छलकपट होता है उससे भी अधिक भयंकर है और धर्म के प्रसंग में यदि लोभ जग रहा है तो वह लोभ अन्य लोभ के प्रसंगों से भी ज्यादा भयंकर है। जो उद्धार का उपाय है उसमें ही हम कषाय करने लगें तो उद्धार होगा कहाँ से? इसे तो अनन्तानुबंधी कषाय कहते हैं। गृहस्थ पुरुष जो विवेकी हैं, घर दुकान व्यवहार के मामले में क्रोध भी कर लें, मान, माया, लोभ भी अपने-अपने समय में चलते हैं, उनके सामने धर्म के मामले में किए हुए क्रोध, मान, माया, लोभ यद्यपि छोटे जँचते हैं, लेकिन आत्मघातक शक्ति इनके अन्तर में अधिक निहित है। धर्म में कषाय करने वाला विवेकी सम्यग्दृष्टि न होगा और घरगृहस्थी में बड़े-बड़े कषाय करके भी सम्यग्दृष्टि रह सकते हैं। जीव नाना प्रकार के हैं, उनका परिणमन उन उनके अधीन है, इसलिए किसी भी मनुष्य से वचन का विवाद मत करें।

**अविवाद में दूरदर्शिता**—मान लो आप कहीं घूमने जा रहे हैं, संकरा रास्ता है,एक ओरअच्छा और एक ओरकम चला रास्ता है। कोई देहाती मूड़ढ़ आपके सामने से आ रहा है, तो आप समझते हैं कि यह देहाती है, ना समझ है, अपढ़ है,इसे उस गंदे रास्ते से जाना चाहिए और ऐसे ही वह देहाती भी समझ ले कि इन बाबू जी को इस रास्ते से जाना चाहिए, ऐसा ही यदि दोनों हठ कर लें तो काम तो न बनेगा। विवेकी पुरुष तो दूरदर्शी होता है। वह दूर से ही रास्ता काटकर चल देगा। यदि न चले वह विवेकी रास्ता काटकर तो उसका कितना नुकसान है? उसका तो जबरदस्त अपमान हो जायेगा। वह सीधे साधे सरल स्वभाव से बचकर निकल गया तो इसमें उसका कुछ नुकसान नहीं है। यदि वहाँ वादविवाद हो जाय तो अपमान बना बनाया है। दूसरी बात समय खराब हो गया, तीसरी बात हृदय में कलुषता बढ़ गयी, चौथी बात यह बदला देने का अथवा नुकसान पहुंचाने का आगामी काल में भी वासना बन बैठेगी। वचनविवाद में नुकसान ही नुकसान है और एक थोड़ी दूरदर्शिता के कारणबचकर निकल जाय तो लाभ ही लाभ है।

**वचनविवाद का अनवसर**—भैया ! किससे वचनविवाद करते हो, जो हीन हैं, तुच्छ हैं उनसे तो वचनविवाद ऐसे ही न करना चाहिए। जो बड़े हैं उनसे वचनविवाद करना ही न चाहिए और जो अपने समान हैं उनसे वचनविवाद करने की चोट बड़ी गहरी बनेगी, फिर किससे विवाद करते हो? ये नाना जीव हैं, इनका परिणमन भिन्न है, हमारा उन पर कोई अधिकार नहीं है। हमने मनुष्य जन्म पाया है तो अपने आपमें अपने आपको संभालकर अपने कल्याण का काम बन जाना ही तो कर्तव्य है। इसी कारण इन योगीश्वरों को मौन व्रत के साथ आत्मकार्य की साधना के लिए कहा गया है।

**सर्वपरितोषकर उपाय का अभाव**—इन नाना जीवों के नाना प्रकार के कर्मों का उदय है, जिन उदयों से ये जीव भिन्न-भिन्न प्रकार की वाञ्छाएँ रखते हैं, जब इच्छा न्यारी-न्यारी जुदी-जुदी है तो तुम किसको खुश कर सकोगे? एक ही समय है। माली चाहता है कि खूब पानी बरस जाय ताकि हमारा बाग़ खूब हरा भरा रहे और कुम्हार चाहता है कि खूब बादल साफ रहें, कड़ी धूप रहे ताकि हमारे बर्तन सूख जायें। अगर पानी न बरसे तो माली का बाग़ सूखा और अगर पानी बरस गया तो कुम्हार के मिट्टी के बर्तन फूटे। तो जिसके मन माफिक न हुआ वह परेशानी में पड़ जाता है।वहाँ तो निमित्तभूत से जैसा जो होना है हो जाता है।

**सर्वपरितोषकर्ता के अभाव का एक दृष्टान्त**—एक बच्चों की कहानी प्रसिद्ध है कि बाप बेटा घोड़े को लिए जा रहे थे तो पहिले तो घोड़े पर बेटा बैठा। जिस गाँव से वे बाप बेटे निकले उस गाँव के लोग कहने लगे कि यह हट्टाकट्टा बैठा घोड़े पर चढ़ रहा है और बाप को पैदल चला रहा है। आगे चलकर बेटा बाप से बोला कि घोड़े पर आप बैठो हम पैदल चलेंगे क्योंकि लोग हमारा नाम धरते हैं। जब दूसरे गाँव से घोड़े पर बाप बैठा हुआ निकला तो लोग कहने लगे कि बाप तो हट्टाकट्टा बैठा है घोड़े पर, सुकुमाल बेटे को पैदल चला रहा है।

आगे चलकर विचार किया कि चलो दोनों बैठकर चलें क्योंकि लोग नाम धरते हैं। तीसरे गाँव से दोनों उस घोड़े पर बैठे हुए निकले तो लोग कहते हैं कि मालूम होता है कि यह घोड़ा मांगे का है क्योंकि दोनों के दोनों हट्टेकट्टे इस पर बैठे हैं। आगे चलकर दोनों उतरकर पैदल चलने लगे तो चौथे गाँव के लोग कहते हैं कि ये दोनों बेवकूफ हैं, यदि पैदल ही जाना था तो घोड़े को लेकर क्यों चलते? अब बतावो वे और क्या काम करें? चार काम तो कर लिए। अब 5 वां काम क्या करें? क्या घोड़े को अपने कंधों पर ले जायें? तो किस किसको तुम खुश करोगे?

**स्वहितदर्शन का कर्तव्य**—यह बुद्धि तो बिल्कुल तज दो कि हम दूसरों को खुश करने के लिए काम करें। अपना धर्म देखो, अपनी शान्ति का उपाय देखो, जैसे में शान्ति मिले वैसा कार्य करो। हमारे ये रागद्वेष,विषयकषाय हट जायें, शुद्ध ज्ञानप्रकाश की प्राप्ति हो, वह काम करने का कर्तव्य है। इन जीवों के नाना इस प्रकार के कर्मों के उदय हैं तब भिन्न-भिन्न कर्मोदय के कारण उनमें भिन्न-भिन्न इच्छा होना अनिवार्य ही है, इस कारण भी तुम दूसरे जीवों से वचनविवाद करके अपना भला नहीं कर सकते हो।

**सर्वतोषक वचनों का अभाव**—और फिर देखो—जीव में नाना प्रकार की लब्धियां हैं जिससे यह जीव भिन्न-भिन्न प्रकार का ज्ञान रखता है। क्षयोपशम सबका जुदा-जुदा है। कोई किसी प्रकार जानता है,कोई किसी प्रकार जानता है,जीव के जानने की जातियां भी नाना प्रकार की हैं। जो कुछ भी आप दूसरों को समझावोगे वह उनके लिए फिट नहीं हो सकता। सबकी जुदी-जुदी योग्यता है। कभी-कभी तो कोई श्रोता वक्ता को यों परेशान कर देते कि आप कठिन बहुत बोलते हैं, कुछ सरल कीजिए और कोई लोग कहते हैं कि आप कहानी किस्से आदि ही कहते हैं, कोई तत्त्व की ठोस बात कहो। अब बतावो वक्ता क्या करे? जिसकी जैसी योग्यता है, जिसका जैसा क्षयोपशम है, कर्मों का उदय है वैसा परिणमन होता है। वचनविवाद करना व्यर्थ की चीज है। इस कारण जो परमार्थवेत्ता पुरुष हैं उनको न तो सधर्मीजनों से विवाद करना चाहिए और न अन्य धर्मात्मावों के साथ विवाद करना चाहिए।

**साधर्मीहीलन की निर्जराहेतुता**—कभी कोई साधर्मीपुरुष अपना कितना ही अपमान करें तो समझो कि वह प्रसंग भी हमारे भले के लिए है। शास्त्रों में आया है कि सधर्मीजनों के द्वारा यदि हीलन, पराभव होता है तो वह कर्मनिर्जरा का कारण है। यदि कुछ समतापरिणाम हो सके तो कितना ही पराभव हो तो वह निर्जरा का ही कारण है। इसलिए जो विवेकी पुरुष होते हैं वे अपने-अपने विभाव की प्रकृति माफिक धर्मकार्यों को कर रहे हैं, अन्य जन तो कहने वाले नाना प्रकार के हैं, दोष देने वाले बहुत हैं। आप कोई सा भी काम करिये,किसी संस्था का कोई पद संभाले हो या किसी स्कूल,मंदिर आदि का कार्य करते हो तो इसमें दोष देने वाले बहुत मिलेंगे और कहीं-कहीं तो उनका पराभव भी होता रहेगा लेकिन यह पराभव, यह तिरस्कार, यह हीलन आदि समतापूर्वक सहने की क्षमता बन गयी और धर्मात्मावों में यह क्षमता रहती भी है तो वह तो कर्मों की निर्जरा करने वाली है।

**परोपकार में भी स्वहित का लक्ष्य**—भैया ! कुछ भी करो,वह आत्महित की दृष्टि से करो। मुझे अपना उपयोग विशुद्ध रखना है। घर,गृहस्थी,कुटुम्बजनों के मोह में हमारा उपयोग विशुद्ध नहीं रह सकता। इस कारण दूसरे जीवों काउपकार करने लगें। जिनमें मोह है ऐसे घर की सेवा, स्त्रीपुत्र की सेवाखुशामद कौन मूढ़ नहीं करता है? उसमें पाप ही लगता है। उस पाप को धोने के लिए यह कर्तव्य है कि जिनमें हमारा मोह नहीं है, जिन्हें हम अपना कुटुम्बी नहीं मानते ऐसे जनों की भी सेवा करने लगें, इससे वह पाप कटेगा। अन्य जनों की सेवाशुश्रूषा से इसने कितना आत्महित किया और जिनमें मोह बसा है उनकी सेवाशुश्रूषा से इसने अपना

कितना अहित किया है, इस मर्म को विवेकी पुरुष ही समझ सकते हैं। तत्त्वज्ञानी पुरुष न तो सधर्मीजनों के साथ विवाद करते हैं और न अन्य धर्मी पुरुषों के साथ विवाद करते हैं। इस गाथा में जो तीन बातें कही हैं कि नाना जीव हैं, नाना कर्म हैं और नाना लब्धियां हैं उसके इस प्रकरण में यह भाव है कि वचनविवाद उनसे इस कारण नहीं करना चाहिए।

**जीव, कर्म व लब्धियों का नानापन**—अब भेदअभेद की दृष्टि से इसका अर्थ देखो। जीव नाना हैं, कोई मुक्त हैं, कोई संसारी हैं, अभव्य हैं, त्रस हैं, स्थावर हैं, दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय हैं, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, नाना प्रकार के जीव हैं, इनमें कोई भव्य कहलाते हैं, जो भविष्यकाल में अपना स्वभाव अनन्तचतुष्टयात्मक सहज ज्ञानादिक गुणों का विकास करने के योग्य हो वह भव्य होता है और जो अपने ज्ञानादिक विकास करने के योग्य न हो उन्हें अभव्य कहते हैं। कर्म भी मूल में 8 हैं, भावकर्म को भी कर्म कहते हैं, शरीर को भी नोकर्म कहते हैं। उन 8 कर्मों को द्रव्यकर्म कहते हैं। उनके उत्तरभेद 148 हैं और उनमें भी तीव्र फल देने की शक्ति, मंद फल देने की शक्ति की नाना डिग्रियों से अनेक भेद हैं। जीव के सुख आदिक की प्राप्ति की लब्धियां भी अनेक हैं, क्षयोपशम अनेक हैं, अथवा काललब्धियां, विशुद्ध लब्धियां देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि आदिक अनेक लब्धियाँ हैं किन्तु इन सबमें चूँकि वचनविवाद न करने का शिक्षण किया है तो हमें तो यों देखना चाहिए कि जब जीव के नाना व्यक्तियां हैं, उनकी नाना इच्छाएँ हैं, उनमें नाना ज्ञान की योग्यताएँ हैं तो हम वचनविवाद करके कुछ लाभ नहीं उठा सकते हैं, इस कारण हमें जीवों के साथ वचनविवाद न करना चाहिए।

**वचनविवाद से हानि होने के कारण मौनव्रत से आत्मसाधना का उपदेश**—सधर्मीयों से विवाद करने में धर्म की हानि है और अन्य धर्मीजनों के साथ विवाद करने में कष्ट की सम्भावना है,इस कारण अपने आपको शान्त रखने के लिए वचनविवाद का परिहार करना और कोई यदि जिज्ञासु है, भली प्रकार उसकी परीक्षा में सफलता पायी है तो केवल हितकामना से आप कुछ बोलें, यहाँ योगीश्वरों को मौन व्रतसहित निज परम आवश्यक काम करने का उपदेश दिया गया है। उससे हमें भी यह शिक्षा लेना चाहिए कि हम भी वचनविवाद न किया करें और अपने वचनों को संयमित करके हितमित प्रिय वचन बोलें। जिससे आत्महित हो, इस प्रकार बोलने का यत्न करें।

## गाथा 157

लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्तें।

तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्त परणत्तिं।।157।।

**परमतत्त्व की आराधना की विधि का प्रतिपादन**—परम आवश्यक कार्य की व्याख्या कर चुकने के बाद अबकुन्दकुन्दाचार्यदेव इस गाथा में इस सहज तत्त्व की आराधना की विधि बता रहे हैं। अपने आपमें अपने स्वभाव से जो अपना स्वरूप है उस स्वरूप की आराधना किस प्रकार की जाती है? उस पद्धति को कह रहे हैं। जैसे कोई दरिद्र पुरुष किसी बड़ी निधि को पा ले तो उस निधि के फल को किसी रहस्यभूत स्थान में एकान्त स्थान में गुप्त वृत्ति से अनुभव करते हैं, इस ही प्रकार इस ही जीव को जो कि अनादि काल से पर

की आशा रखकर दीन दरिद्र होता चला आ रहा हैकदाचित् यह अपनी ज्ञाननिधि को पा ले तो ज्ञानी होकर यह भी समस्त परसम्बन्धों को त्याग कर एकान्त निज स्वरूप में स्थित होकर बड़ी मूढ़ वृत्ति से अपनी इस ज्ञाननिधि के फल का अनुभव करता है।

**पर के आकर्षण में आत्माराधना का अभाव**—इसमें यह बात बतायी गयी है कि ज्ञाननिधि का भोग पर की और आकर्षित रहने में न हो सकेगा। संसार का वचनव्यवहार बनायें रहे तो वहाँ इस ज्ञाननिधि का भोग न किया जा सकेगा। यह तो सबसे विरक्त होकर एक निज स्वभाव में ही विशिष्ट धुन बने तो इस ज्ञानप्रकाश का अनुभव होता है। लोक में जो भी अपनी ख्याति,नामवरी,प्रशंसा आदिक चाहता है वह तो दरिद्रता प्राप्त करने का उपाय है। आत्मा में अतुल निधि पड़ी हुई है जिसकी दृष्टि में ही अतुल आनन्द बरसता है। जिसने किसी पर-चीज में बाह्य में कुछ भी वाञ्छा की वह अपने इस अतुल आनन्दरस को नहीं भोग सकता है।

**सत्यस्वरूप के ग्रहण के आग्रह का अनुरोध**—लोगों की आदत होती है कि जिस चीज में आनन्द मालूम पड़ा उसकी हठ पकड़ जाते हैं। जैसे स्वादिष्ट भोजन करने वाले कोई धनिक पुरुष होते हैं, वे अपने मन में ठान लेते हैं कि हमको आज अमुक चीज खाना है, परन्तु बनना चाहिए, झट उसके बनवाने का उद्यम करेंगे। उनको भीतर में यह गौरव व गारव पड़ा हुआ है कि मैं समर्थ हूँ,मैं जो चाहूं वह तुरन्त होना चाहिए। भैया ! जैसे अन्य अनेक नुकसान करके भी अपने मनचाही बात की सिद्धि में हठ कर ली जाती है आनन्द पाने के ख्याल से तो जरा इस ओर भी दृष्टि दो कि इन विनश्वर, असार, अहित भिन्न चीजों की हठ में तो बुद्धिमानी है नहीं। यह काहे का सुख थोड़ी देर को हो और पराधीन बनकर हो, व अनेक विडम्बनावों से परिपूर्ण हो। परवस्तुवों के प्रेम से पाया हुआ सुख कौनसा सुख है? एक शाश्वत आनन्द की हठ तो बनावो, मैं तो अपने आपके सहज शुद्ध आनन्द को ही पाऊंगा, मुझे न चाहिए ये बाह्य जगजाल। इन बाह्य पदार्थों से दृष्टि हटाकर केवल अपने आपमें अपने स्वरूप को निरखकर अद्भुत आनन्द की हठ बनावो।

**क्लेशकारी पुरानी कुटेवों के बदलने की सम्मति**-लोग नुकसान पापाकर अपना रोजगार, व्यापार, आजीविका के साधन बदलते रहते हैं। इसमें ठीक मुनाफा नहीं मिला, बहुत दिन हो गए टोटा सहतेसहते, अब इस काम को बंद करके कोई नया काम देखें। अरे ! अनादिकाल से परद्रव्यों के प्रेम में टोटा ही टोटा सहते आये, उस व्यापार को तो नहीं बदलते। आँखों से स्पष्ट दिखता है, लोग जन्मते हैं, मरते हैं, सब कुछ छोड़कर चले जाते हैं। जब तक यहाँ जीवित हैं तब तक भी धन से, परिजन से,कुटुम्ब से किसी को शान्ति नहीं मिलती है, क्लेश ही क्लेश है। दूसरों के पुण्य के चाकर बनकर उनकी सेवा में जुट रहे हैं, इतना साफ देख भी रहे हैं किन्तु मोह को त्यागने की और अपने आपमें विराजमान् प्रभु की उपासना की अभिलाषा नहीं होती है। कैसा मोह का विकट भ्रम पड़ा हुआ है?

**राग की विपदा**—भैया ! एक तो राग करना ही विपदा है और फिर राग में भी राग बनाया जाय, यह राग न मिटे, इस राग से ही मेरा बड़प्पन है, इससे ही मेरी शोभा है,यों राग का राग न मिटना यह इस जीव पर पूर्ण विपदा है। हम आप एक बड़ी यात्रा करते चले जा रहे हैं। इस यात्रा के बीच में एक मनुष्यभव का स्टेशन मिल गया है, इस पर यह गाड़ी रुकेगी नहीं। अपना समय पाकर यह आगे भी चली जायेगी, यह यात्रा ही करता रहेगा। इसकी यह विषम यात्रा तब समाप्त होगी जब इसे निज विश्रामगृह मिल जाय जो निर्बाध हो। यह विश्रामगृह है मोहरागद्वेष से निवृत्त होकर शुद्ध ज्ञानप्रकाश में मग्न हो जाना। यह स्थिति जब तक न मिलेगी तब तक जगह-जगह की यह भटकना बनी रहेगी।

**बाह्य में अरम्यता**—लोग सोचते हैं कि बड़ी प्रतीक्षा से ये भोग के साधन मिले हैं सो हर्षमग्न होकर अपने आपको भूलकर उन्हें भोग लें। अरे ! जो भोग मिले हैं उनसे भी कई गुणे भोग अनन्ते बार मिल चुके हैं पर तृप्ति किसी भी भवमें नहीं हुई। इस जीवन में ही देख लो,किसी भोग के बाद क्या तृप्ति हो जाती है? अरे ! बाहरी चीजें तो ज्यों की त्यों बनी हुई हैं, उन्हें भोगा क्या है पर खुद विडम्बना में पड गए हैं। हम दूसरे को क्या भोग सकते हैं, बाह्य पदार्थों की ओरदृष्टि रखकर कोई निज प्रभु की आराधना नहीं कर सकता है। कल्याण के लिए बड़ा त्याग चाहिए, बड़ी उदारता चाहिए, बड़ी तपस्या चाहिए। जब तक उदारता न प्रकट होगी, परद्रव्यों से भिन्न अपने आपकी आराधना का जब तक यत्न न होगा, निर्मलता तब तक न आयेगी, शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती है।

**मोह में विडम्बना**—अहो ! यहाँ जगत के अनन्ते जीवों में से दो चार को अपनाकर कैसा विडम्बित बखेड़ा बना लिया है, गृहस्थी है, व्यवस्था है, करना पड़ता है;पर लोग करना पड़ता है इस भाव से तो नहीं करते, उनकी तो यही दृष्टि है कि मेरा तो तन है, मन है, धन है वह सब इन कुटुम्बियों के लिए है। इस ही धुन में ये अपने तन, मन, धन, वचन, सबका दुरुपयोग कर रहे हैं। यह बहुत बड़ी विडम्बना है। रहना तो कुछ है नहीं, पर साथ ही पापबंध कर जाना होगा। उसके फल में दुर्गति ही सहनी पड़ेगी। सामर्थ्य है जरा इसलिए उद्दण्डता करते हैं, मन को नहीं रोक पाते हैं, मन को वश में नहीं करते हैं। कषायवश ही ऐसा समझते हैं कि जो हम करते हैं ठीक है, लेकिन इसका फल कोई दूसरा भोगने आयेगा क्या? बताओ तो। जो स्वच्छन्द, उद्दण्ड होगा, पतन की ओर बना होगा, फल तो वही भोगेगा। हमारा कर्तव्य है कि हम मोह में न बह जायें। अरे ! वे दूसरे प्राणी हैं, उनके भी उदय है। यदि उन्हें कोई कष्ट आता है तो उनके ही उदय से आता है, मैं उनमें क्या संभाल करूँगा? और यदि वे कुटुम्बीजन आनन्द से रहते हैं तो वे अपने पुण्य के उदय से आनन्द से रहते हैं, उनको हम आनन्द नहीं दे सकते हैं।

**आत्मरमण**—यह मैं आत्मा अकेला हूँ,असहाय हूँ,अपने भावों को ही गूँथता रहता हूँ। भावों के सिवाय हमारे पास और कुछ धन नहीं है। देह तक भी तो हमारा नहीं है, अन्य सम्पदा की तो बात ही क्या कहें? यह तो केवल भावात्मक पदार्थ है, इसके पास तो केवल भाव ही धन है। उत्तम भाव बना लिया तो इसकी रक्षा है, निष्कृष्ट भाव बना लिया तो इसकी बरबादी है। यह ज्ञानी पुरुष अनन्त आनन्द के फल को देने वाली इस ज्ञाननिधि को पाकर गुप्त ही गुप्त अपने आपमें ही चुपचाप मौनवृत्ति से इस ज्ञाननिधि का अनुभव करता जाता है और प्रसन्न रहता है। इसे बाह्य विकल्प परेशान नहीं कर पाते हैं।

**परमतत्त्व की आराधना की विधि पर एक दृष्टान्त**—दृष्टान्त में बताया है कि जैसे कोई दरिद्र अनेक वर्षों से बड़ी दरिद्रता के दु:ख सहता आ रहा है, लोगों से भीख मांगकर अपनी उदरपूर्ति कर पाता है, ऐसी दरिद्रता को कदाचित् सुकृत के उदय से कोई निधि कहीं मिल जाय तो उस निधि के फल को स्वयं सुरक्षित स्थान में बैठकर अत्यन्त मूढ़ वृत्ति से चुपचाप देखकर उसका उपयोग करकरके आनन्द का अनुभव करता है, ऐसे ही सहज तत्त्व के मर्म का ज्ञान करने वाला यह जीव अनादि काल से रागद्वेषमोह प्रसंगों में रहकर दरिद्रता को भोगता चला आया है। आनन्द की निधि का इसे गौरव नहीं रहा और बाहरी पदार्थों से आशा करके भीख मांगकर गुजारा किया। अब यह ज्ञानी जीव जब कभी निकटभव्यता आये, संसारसंकटों से छूटने का अवसर पाये, तब इसमें सहज ज्ञान आदिक गुणों की दृष्टि जगी, सहज वैराग्य सम्पदा मिला। ज्ञान का काम जानना ही तो है ना। न जाने बाहर को, अपने आपके अन्दर को ही जान ले, इसको आत्मज्ञान की यों निधि मिली, सहज वैराग्य की सम्पदा प्राप्त हुई और जो परम गुरु है, उन तत्त्वज्ञानी विरक्त गुरुवों के चरणकमल में

रहकर उनकी सेवा भक्ति के प्रसाद से सहजज्ञान निधि पायी तो वह अपने आपमें अन्त: गुप्त रहकर उस ज्ञानामृत का पान करके तृप्त रहा करता है।

**अध्यात्मसाधना की निधि की मूढ़ता**—यहाँ जानबूझकर,छुपकर,चुपचाप ज्ञानानुभव की बात करने को नहीं कह रहे हैं किन्तु विधि ही उसकी ऐसी है। दूसरों को देखकर, दूसरों में बनकर, दूसरों में व्यवहार करके ज्ञानामृत का पान किया ही नहीं जा सकता है। कहीं यह बात नहीं है कि लोगों से छुपकर, डर कर, कहीं कोई देख न ले, कहीं कोई छुड़ा न ले, इस भय से वह ज्ञाननिधि का भोग करता हो। विधि ही यही है कि लोगों को जताकर लोगों के प्रति आकर्षित होकर लोगों में वचनव्यवहार बनाकर इस ज्ञाननिधि का भोग नहीं किया जा सकता जिस ज्ञाननिधि के अनुभव से,दृष्टि से संसार के संकटों से सदा के लिए छुटकारा मिलता है।

**परजनतृप्तिपरिहार**—ज्ञाननिधि को पाकर ज्ञानी के यह परजनों का समूह छूट जाता है। परजन के मायने जिस प्रकार का उसका आशय है ऐसा आशय जिनके न हो वे ही परजन कहलाते हैं। कोई आपके मित्र हों और उनमें कोई अब आपसे विपरीत हो गया हो तो आप कहतेहैं कि अब वह हमारा नहीं रहा,गैर हो गया। अरे ! वह तुम्हारा कब था? मोह की कल्पना में उसे अपना मान रहे थे। जब कषाय में कषाय न मिली, विरुद्ध आशय हो गया तो कहते हैं कि अब यह मेरा नहीं रहा, गैर हो गया;इसी प्रकार ये ज्ञानीजन भी गैरों से बचकर रहते हैं। ज्ञानियों के लिए गैर कौन हैं? जो ज्ञानहीन हैं, विपरीत आशय वाले हैं, आत्मस्वरूप की जिन्हें खबर नहीं है ऐसे मनुष्यों से बचकर रहते हैं। घृणा की वजह से नहीं किन्तु अज्ञानीजनों के बीच की वासना ध्यान में बाधक होती है। अरे !जो हमने ध्यान बनाया है आत्मस्वरूप की साधना का, उसमें हमें जहाँ-जहाँ लाभ मिलेगा वहाँ-वहाँ ही तो हमारी प्रवृत्ति बनेगी। मोहीजनों के बीच बस करके इस आत्मा को लाभ क्या मिलता है? वही अज्ञान, वही रागद्वेष जग बैठता है। तो जो स्वरूप से विकल हैं ऐसे परजनों का समूह ध्यान में बाधा का कारण है। ऐसा जानकर ज्ञानी इनका त्याग कर देते हैं और अपने आपमें ही अपनी ज्ञानानुभूति को अपने में से झरा-झराकर पान करके तृप्त करते हैं।

**लौकिक आशय से गृहीत धर्मवेश से अप्रभावना**—इस गाथा में सहज परमतत्त्व के आराधना की विधि बताई गई है। दिखावे से धर्म न होगा। दिखावट, बनावट, सजावट इनसे धर्म नहीं है, किन्तु अपने आप अपने को देखा जाय, अपने आपमें अपने को स्वयं अनुभवा जाय, अपने आपमें अपने भीतर सहज सजावट हो जाय तो वहाँ धर्म मिलेगा। किसी को दिखाने से धर्म नहीं मिलता है। इस बुद्धि को तो त्याग ही दो कि मैं बताऊं दूसरे को कि मैं बहुत धर्मात्मा हूँ,मैं अच्छा संयम पालता हूँ। दूसरों को दिखाने का रंच भी चित्त बनाया है तो समझिये उस पर पूरा मोह का अंधकार छाया है। ऐसी कलुषता बहुत बड़ी कलुषता है और वह तो धर्मव्रत भेष संयम की साधना करके भी हँसी कराता है क्योंकि जिसको अपने आपमें आत्महित की अभिलाषा नहीं है, लोगों के दिखाने, बताने का ही ख्याल है और इसको ही मौज माना है उसकी प्रकृति हास्यास्पद होगी। वह बढ़-बढ़कर बातें करेगा, बढ़-बढ़कर आगे आयेगा, लोगों को सुहायेगा नहीं।वहाँ तो न बाहर में धर्म की प्रभावना हुई और न उसही में खुद धर्म की प्रभावना हुई।

**ज्ञानी के जीवन का लक्ष्य**—हे आत्मन् ! तू इस लोक में अकेला है, असहाय है, खुद ही खुद के लिए तू सहाय है, तू बाहर में किसी से कुछ न चाह।चाहकर होगा भी क्या? तू किसको क्या बताना चाहता है। तेरे को तो कोई पूछता ही नहीं और तू ऐसी प्रवृत्ति से चलता है 'कि मान न मान मैं तेरा मेहमान, ऐसी जबरदस्ती किसी परवस्तु पर थोपी नहीं जा सकती है। तू अपनी संभाल कर, अपने को प्रसन्न रख। अपने आपमें में अपने आपका पुरुषार्थ पा। दूसरों को खुश करने के लिए ही तू अपना जीवन मत समझ। अपने

को न्यायपूर्ण निष्पक्ष परमात्मतत्त्व रस के भोगने के लिए प्रयोजन मान कि मेरा जीवन इस आत्मसाधना के लिए है।

**सबको राजी करने की अशक्यता**—एक सेठ के चार बालक थे। 5 लाख का धनी था। ठीक न्यायपूर्वक एक-एक लाख बांट कर दिया गया। सेठ नेभी अपने लिए एक लाख ले लिया। कुछ दिन बाद सेठ ने अपने सभी लड़कों से कहा कि अपन लोग शान्तिपूर्वक न्यारे हो गए, कोई बाधा नहीं होने पायी, अब अपन ऐसा करें कि सभी बेटे बिरादरियों को प्रीतिभोज करें। तो सबसे पहिले छोटे लड़के ने बिरादरी के लोगों को प्रीतिभोज कराया। उसने 8, 10 मिठाई बनवायी। तो बिरादरी के लोग जीमते जावें और कहते जायें कि मालूम होता है कि छोटा बेटा तो अधिक प्यारा होता ही है सो इसके पिता ने इसे ही सारी जायदाद सौंप दी है, इसी से खुशी में यह 8, 10 प्रकार की मिठाई सबको खिला रहा है। उससे बड़े ने प्रीतिभोज किया तो उसने सिर्फ दो ही मिठाई बनवायी। तो बिरादरी के लोग खाते जायें और कहते जायें कि यह तो चालाक होशियार निकला, इसने तो दो ही मिठाई बनवायी। जब उससे बड़े तीसरे ने प्रीतिभोज करवाया तो उसने मिठाई का नाम ही नहीं लिया, सीधे पूड़ी और साग बनवाया, बिरादरी के लोग जीमते जायें और कहते जायें कि इसने तो मिठाई का नाम भी नहीं लिया, मिठाई का एक दाना भी जीभ पररखने को नहीं बनवाया। जब चौथे ने प्रीतिभोज करवाया तो उसने सीधी चने की दाल और रोटी बनवाई, पूड़ी साग तक का भी नाम नहीं लिया, तो बिरादरी के लोग जीमते जायें और कहते जायें कि यह सबसे दुष्ट निकला। यह सबसे बड़ा था इसी के हाथ में सब कुछ था, सब तो धर लिया होगा, पर खिलाने में पकवान तक का भी नाम नहीं लिया।

**अपनी परमार्थ प्रसन्नता में लाभ**—अरे भैया ! थोड़े ही लोग तुम्हारे अनुकूल बोलेंगे, बाकी सब प्रतिकूल बोलेंगे। तुम अपनी धुन अपने को प्रसन्न रखने की बनावो। हाँ ऐसा करो कि किसी पर अन्याय न हो, क्योंकि अन्याय के परिणाम से तुम्हारा ही घात है। तुमसे कोई पाप का काम न बने क्योंकि पापवृत्ति से तुम्हारा ही घात है। तुम अपने आपकी रक्षा के लिएअपनी प्रवृत्ति बनावो, तुम अच्छी प्रकार चलोगे, तो तुम्हारे वातावरण में जो जो भी आयेगा उसका भी भला होगा, और तुम स्वयं खोटी रीति से चलोगे तो न खुद का भला कर सकोगे और न दूसरों का भला कर सकोगे। अपने आपकी सुध रक्खो। जैसे कोई लौकिक पुरुष पुण्योदय आने पर निधि मिल जाय तो उसे औरों का संग छोड़कर कैसा गुप्त होकर उस निधि का भोग करता हैं, ऐसे ही तू ज्ञाननिधि पाकर दूसरों का संग त्याग कर गुप्त रूप से अपने आपकी ज्ञाननिधि का पान कर।

**शुद्ध अनुभव के आनन्द के पात्र**—जो पुरुष सर्वपरिग्रहों को,जो कि जन्म मरण के कारण हैं, त्यागते हैं, और सहज वैराग्य को जो धारण करते हैं वे इससहज आनन्द के अनुभव के कारण अनाकुल रहते हैं और अपने आपकी शक्ति में अपने आपको डाटे रहते हैं। जिनके मोह दूर हो जाता है वे महापुरुष इन समस्त लोक को जीर्ण तृण की तरह देखते हैं। जैसे जीर्ण तृण से हमारे जीवन का कोई काम नहीं सधता, ऐसे ही इन समस्त विभावों से मेरे आत्मा का कोई काम नहीं सधता है।येसमस्त परसमागम असार हैं, उनसे प्रीति को तजकर ज्ञानी पुरुष अपने आपमें गुप्त ज्ञाननिधि का अनुभव करते रहते हैं।

## गाथा 158

सव्वे पुराण पुरिसा एवं आवासयं य काऊण।

अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्जय केवली जादा।।158।।

**परमावश्यक के फल के प्रतिपादन में पुराणपुरुषों का उदाहरण**—परम आवश्यक अधिकार की यह उपसंहार रूप अन्तिम गाथा है। परम आवश्यक के प्रसाद से,निश्चय अध्यात्म विधान से परमआवश्यक कार्य को करके स्ववश पुराणपुरुष अप्रमत्त आदिक गुणस्थानों को प्राप्त करके केवलज्ञानी हुए हैं। इस गाथा में आवश्यक कार्य का फल बताया गया है। जो पुराण पुरुष निर्वाण पधारे वे जीव भी अनादि काल से मोहवासना में ग्रस्त हुए मिथ्यात्व में ही पग रहे थे। अनन्तकाल व्यतीत हो चुका, मिथ्यात्व भाव में वे जीव परवस्तुवों से पृथक् चित्स्वभावमात्र अपने आपकी श्रद्धा नहीं कर पाये थे। यद्यपि उन आत्मावों में किसी प्रकार की विपदा नहीं थी, लेकिन भ्रमवश अपनी कल्पना बढ़ा-बढ़ाकर अपने आपमें भावात्मक बोझ लादते चले जा रहे थे। समवितव्यता से उन्हें तत्त्व श्रद्धा हुई व परमावश्यक के प्रताप से कैवल्य प्राप्ति हुई।

**मोहभार से पीड़ित जीवन की दशा**—मोह का भावात्मक बोझ विकट बोझ है जिस बोझ के कारण इस आत्मा की कुछ आगे गति ठीक नहीं हो पाती है। यह धनसम्पदा को अपना समझता है जो प्रकट भिन्न पदार्थ हैं, अचेतन हैं, जिनका आलम्बन लेने पर केवल विह्वलता ही साथ लगती है, ऐसे इन असार भिन्न पदार्थों को अपना मानते हैं, परिजन मित्र जनों को अपना समझते हैं। हैं प्रकट भिन्न जीव, उनकी कषाय उनके अधीन है, उनकी चेष्टा उनमें है, उनका अनुभव उनमें है लेकिन कषायवश यह जीव उन परजीवों को भी अपना मानता है, इस शरीर को भी अपना मानता है। शरीर से थोड़ा बन्धन भी लगा हुआ है। निमित्तनैमित्तिक बन्धन जिससे कुछ और विशेष यह देह को आत्मा मानता है। अपने आपमें उत्पन्न हुए रागद्वेषमोहभावों को भी अपना स्वरूप समझता है। कोई पुरुष किसी कषाय में बाधा डाले तो उसे वह बैरी सा मालूम होता है। इससे सिद्ध है कि इस जीव ने अपने कषायपरिणामको ही अपना रक्खा है।

**मोही जीव के विकल्पजालों की अपनायत**—अब जरा रागादिक भावों को भी और अंत: चलिए तो जो कल्पना-जाल होते हैं उन विकल्पों को पर्यायबुद्धि जीव ने अपना रक्खा है। कोई यह पुरुष ज्ञान की बात या कोई भी बात रक्खे, वहाँ इसका कोई दूसरा विरोध करे अथवा कहना न माने तो वह दु:खी हो जाता है। यही कल्पनावों को अपनाने की निशानी है। कदाचित् यह जीव कुछ सत्य ज्ञान, केवलज्ञान आदिकी भी दृष्टि बना ले, ज्ञान में आये कि केवल ज्ञानादिक शुद्ध पर्याय ही इस जीव को शरण हैं तो वह उस शुद्ध पर्याय को ही अपना स्वरूप समझता है। यद्यपि शुद्ध पर्याय स्वभाव के अनुरूप है, लेकिन मैं शाश्वत चित्स्वभावमात्र हूँ,जिसका शुद्ध विकास अनन्त ज्ञानादिक परिणमन हुआ है यह भान नहीं होता। यों इस जीव का काल मिथ्यात्व में ही व्यतीत हुआ।

**निकटभव्यता का परिपाक**—जब कभी निकट भव्यत्व आये तो इसे वस्तुस्वरूप का यथार्थज्ञान होने लगता है। ओह ! मैंने व्यर्थ ही इस अनात्मभाव में, परपदार्थों में यह मैं हूँ,इस प्रकार की वासना करके इतना समय खोया और विकलता का अनुभव किया, मैं आत्मा एक शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ। मेरा किसी भी परपदार्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं है। मैं इस ब्रह्मांड में, लोकाकाश में केवल एक अकेला ही स्वतंत्र होकर अपने आपका परिणमन किया करता हूँ। इसका बोध न रहा था, इसी कारण संसार में भटकना पड़ा। ज्ञान होता है, सम्यक्त्व जगता है और इसके पश्चात् फिर इस ही शुद्ध स्वरूप में स्थिरता के लिए नानाव्रत आदिक का भी परिणमन करता है। यह जीव छठे गुणस्थान तक प्रमत्त माना गया है अर्थात् कुछ-कुछ बाह्य बातों का प्रसंग

रहा करता है। प्रमत्त गुणस्थान केवल अकेला नहीं होता। प्रमत्त और अप्रमत्त इन छठे और सातवें गुणस्थान का परिवर्तन होता रहता है।

**ज्ञानी की सातिशय अप्रमत्तता**—यह जीव जब सातिशयप्रमत्त होता है अर्थात् संकल्पविकल्प व्यवहार, इन सबका परित्याग करके केवल शुद्ध ज्ञायकस्वरूप में स्थिर होता है तो इसके बाद यह प्रमत्तता और भी सातिशय हो जाती है, फिर क्षपक श्रेणी में बढ़कर यह जीव निश्चय धर्मध्यान और निश्चयशुक्लध्यान की उत्कृष्टता बनाकर क्षीणमोह हो जाता है। जितने भी पुराण पुरुष निर्वाण को पधारे हैं वे चाहे पर के उपदेश बिना स्वयं स्वयं बुद्ध होकर केवल ज्ञानी हुए हों और चाहे दूसरों का उपदेश पाकर बोधित बुद्ध बनकर केवलज्ञानी हुए हों, सभी इस निश्चय परम आवश्यक को करके ही केवलज्ञानी हुए हैं।

**बाह्य और अन्त: आवश्यक**—व्यवहार में आवश्यक काम बताया है साधुवों को समता, वंदना, स्तवन,प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग, जिसका कि विशेष वर्णन पहिले चारित्राधिकार में आ चुका है। इस षड् आवश्यक को करके भी यह ज्ञानी श्रमण साधु उन विकल्पों का परिहार करके केवल एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप अपने आत्मा के ही वश है। उस ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व में ही उपयोग को स्थिर करना सो निश्चय परमावश्यक कार्य कहलाता है। यह आत्मा के अधीन आत्मा का परमपुरुषार्थ श्रमण के सुख का कारण है। जगत् में बाह्य में कुछ भी कर्तव्य आत्मा की शान्ति का कारण नहीं हैं।

**मोहनिद्रा के स्वप्न के दृश्य**—जैसे स्वप्न में राज्यपद देख लेवे और उसमें मौज माने तो वह उसकी केवल कल्पना की बात है, राज्य तो रक्खा नहीं है। इस ही प्रकार मोह की नींद के इन लम्बे स्वप्नों में जो किसी भव में 50-60 वर्ष तक स्वप्न आते हैं,किसी भव में और भी अधिक काल तक आते हैं। इस मोह की नींद के स्वप्न में यह जीव राज्य, श्रीमत्ता, प्रतिष्ठा, प्रशंसा के स्वप्न देख रहा है, पर ये भी सब कल्पना की चीजें हैं। यह आत्मा आकाश की तरह निर्लेप,अमूर्त,शुद्ध,चिदात्मक है, इसमें कहां धन है, कहां परिजन हैं, इसमें तो यह देह तक भी नहीं है। इस देहदेवालय में विराजमान् यह प्रभु भगवानआत्मा अब भी इस देह से भिन्न अपने आपमें निर्मल ही अपना स्वरूप रख रहा है, पर मोही जीव अपने प्रभु को मान नहीं सकता है, और इन अचेतन पदार्थों से ही भीख मांगता रहता है अर्थात् इन पदार्थों से सुख की आशा किए रहते हैं तो इसके लिए अन्य किसको दोष दिया जाय?

**अपनी करनी व भरनी में परजीव की अतंत्रता**—जो लोग किसी एक ईश्वर को जगत् का सुखदु:ख देने वाला मानते हैं वे भी इस समस्या पर जीव की करनी पर जोर देते हैं। जब यह समस्या सामने आती है कि ईश्वर तो दयालु है, उसकी दृष्टि में तो सब जीव एक समान होने चाहिएँ, सबको सुख दे, दु:ख किसी को न दे, तो उन्हें भी यह कहना पड़ता है कि ये जगत् के जीव जैसा पुण्य अथवा पाप कर्म करते हैं उसके ही अनुसार उन्हें सुखदु:ख आदि देते हैं। यद्यपि यह भी बात टिकने लायक नहीं है, क्योंकि ईश्वर दयालु है तो वह जीवों से पाप क्यों कराता है और पाप कराकर फिर उन्हें दुर्गति क्यों देता है, वह तो समर्थ है ना। यदि समर्थ नहीं है तो इसका अर्थ ही यह है कि ईश्वर भिन्न चीज है और ये जगत् के प्राणी भिन्न पदार्थ हैं, सभी पदार्थ अपने-अपने उपादान से अपने आपमें परिणत हुआ करते हैं। कोई किसी को सुख अथवा दु:ख का देने वाला नहीं है। यह जीव इस मोह की नींद के स्वप्न में कल्पनाएँ बनाबनाकर अपने आपको परेशान किए रहता है। किसी दूसरे पदार्थ में रंच भी सामर्थ्य नहीं है कि कोई परपदार्थ मुझे परेशान कर सके। सारी परेशानी में केवल इस खुद का ही अपराध है।

**परमावश्यक आराधना का प्रमाद**—हमारे ये सब पुराणपुरुष तीर्थंकर आदिक परमदेव और भी जो स्वयंबुद्ध होकर अर्थात् स्वयंज्ञानी बनकर,दूसरों से न सीखकर,अपने ज्ञान के विशिष्ट क्षयोपशम से स्वयं ही सब समस्यावों को यथार्थ जानकर परम आवश्यक कार्य को करके मुक्ति में पधारे हैं और जो ऐसे भी पुराण पुरुष हैं जिन्होंने दूसरों का उपदेश प्राप्त करके अपनी ज्ञानगरिमा द्वारा आत्मतत्त्व को पहिचाना वे भी इस निश्चय परम आवश्यक को करके निर्वाण पधारे हैं। यह परमात्मा सकल प्रत्यक्ष ज्ञान का धारी है अर्थात् प्रभु अपने ज्ञान से समस्त लोक के त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को स्पष्ट जानता है, ऐसी प्रभुता उन्हें मिली है निश्चय परमावश्यक स्वरूप आत्मा की आराधना के प्रसाद से।

**प्रभु की प्रभुता**—भैया ! प्रभुता का जब वर्णन होता है तो सबके यह अभिलाषा जग जाती है कि प्रभुता हमें भी प्राप्त हो, ऐसे प्रभु का वैभव ही सर्वोत्कृष्ट वैभव है। जिसका ज्ञान समस्त पदार्थों को जानना है, जिनके ज्ञान में कोई भी पदार्थ बिना जाने हुए नहीं रह गया,जो है वह सबका सब ज्ञान है, और जब सबका सब ज्ञात है तो ऐसे ज्ञान में व्याकुलता नहीं हो सकती है। व्याकुलता होती है अज्ञान हालत में,जहाँ सब ज्ञान है वहाँ कुछ चाह ही नहीं हो सकती है। मालूम है कि ऐसा ही है, ऐसा ही होता है। यह होगा फिर चाह क्यों करेगा? इस प्रभु को यदि आगामी समस्त काल की बात आज भी ज्ञात है तो मानो वर्तमान में ही रक्खी हुई हों, इस तरह स्पष्ट प्रतिभास है फिर चाह कहाँ से हो? चाह उसकी होती है जो चीज ज्ञात न हो, प्राप्त न हो। जिसके ज्ञान में समस्त पदार्थ प्राप्त हैं उसकी चाह नहीं जग सकती है और इसी कारण प्रभु अनन्त सुखसम्पन्न है।

**प्रभुताप्राप्ति के पुरुषार्थ की आदेयता**—प्रभु की प्रभुता जानकर भाव तो होता है कि संसार में क्या रक्खा है? यहाँ विकट तो है जन्ममरण का क्लेश और साथ ही आज किसी से राग किया, कल किसी से राग किया, आज किसी से द्वेष किया, कल किसी से द्वेष किया, यों रागद्वेष के प्रवर्तन में यह आत्मा सुलझता रहता है।यहाँ आनन्द नहीं है। प्रभु ही बनो, प्रभुता ही लावो, यह ही उत्कृष्ट कर्तव्य है। भाव तो होता है, मगर प्रभुता पाने के लिए क्या पुरुषार्थ करना होता है, इसको भी समझो और उस पुरुषार्थ को करो तो प्रभुता मिल सकेगी। प्रभुता पाने के लिए पुरुषार्थ है कैवल्य की दृष्टि। कैवल्य शब्द बना है केवल से। केवल मायने ओनली, सिर्फ वही का वही। दूसरा उससे कुछ सम्बन्ध न हो, ऐसा बनना इसही का नाम प्रभु होना।

**कैवल्य में शक्तिवृंहण का स्वभाव**—जो जितना केवल होता जायेगा उसमें उतनी शक्ति बढ़ती जायेगी। इन भौतिक पदार्थों में भी तो देखो। जब तक यह स्कंध है, अनन्त परमाणुवों का मिलाजुला पिण्ड है तब तक उसमें शक्ति अधिक नहीं होती। जैसे ही वे स्कंध बिखरकर सूक्ष्म हो जायें तो उसमें शक्ति बढ़ जाती है और वही और बिखरकर आज के माने हुए वैज्ञानिकों के अनुसार अणु बन जाय तो उसमें और शक्ति प्रकट हो जाती है। आज का माना हुआ अणु वास्तव में अणु नहीं है, वह भी स्कंध है लेकिन इससे और छोटा कोई अविष्कार न हो जाय इसलिए उसे ही अणु कहते हैं। लेकिन सिद्धांत में बताया है कि उसका भी और सूक्ष्म हो जाय और बिखरबिखरकर इतना सूक्ष्म हो जाय कि जिसका कोई दूसरा भाग किया न जा सके, ऐसे अणु में इतनी सामर्थ्य है कि वह एक समय में 14 राजू तक गति कर सकता है। जैसे-जैसे ये भौतिक पदार्थ केवल होते जाते हैं इनमें भी शक्ति बढ़ जाती है। यह जीव द्रव्यकर्मों से घिरा है, रागद्वेष आदिक भावों से बँधा है,विकल्पकल्पनाजालों से घिरा हुआ है। इतना बोझ में है यह आत्मा,इस बोझ से दबकर यह इस संसार में रुलता फिर रहा है, भटक रहा है। यह जीव जब केवल बन जाय अर्थात् जो कुछ इसके साथ लदा

पड़ा है वह दूर हो जाय, यह खाली केवल यही का यही रह जाय, इसी के मायने है प्रभु हो जाना। इस केवल होने में ही ऐसी प्रभुता पड़ी है कि वह समस्त लोकअलोक को जान जाए।

**केवल के उपयोग में कैवल्य का प्रादुर्भाव**—व्यक्तरूप में केवल बनाने के लिए पहिला कदम यह होना चाहिए कि मैं स्वरूप से ऐसा केवल हूँ,दूसरी चीजों में मिलजुलकर रहना मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो मेरे ही सत् में है,ऐसा पहिले के केवल का प्रत्यय होना चाहिए।मैं अकेला हूँ,केवल शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ,जिसे इस कैवल्य की श्रद्धा न होगी वह केवल के अनुरूप अपना उपयोग न बना सकेगा और न उसे कैवल्य की प्राप्ति होगी। अपने इस आत्मतत्त्व को केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र अनुभव करो। जो यह अनुभवदुरनुभव कलंक लगा हुआ है,उपयोग में निरन्तर यह विश्वास बन रहा है कि मैं घरवाला हूँ,ऐसा लम्बा चौड़ा हूँ,गोरा मोटा हूँ या अन्य जो जो भी अनात्मतत्त्वरूप श्रद्धा बन रही है, मैं नेता हूँ,त्यागी हूँ,साधु हूँ,मनुष्य हूँ,किसी भी प्रकार के अनात्मभावरूप अपने आपकी श्रद्धा हो रही है इसे छोड़ना होगा और अपने आपको केवल शुद्ध चिन्मात्र श्रद्धान में लेना होगा। जो पुरुष अपने को केवल शुद्ध चित्स्वरूप निरख रहा है उसमें यह प्रगति बनेगी कि वह शुद्धचैतन्यमात्र ही अपना ज्ञान रखेगा।

**अवशवृत्ति का प्रसाद**—मैं ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ,ऐसे अनुभवनरूप पुरूषार्थ को बनाए रहें,इस ही पुरूषार्थ का नाम है निश्चय परमआवश्यक कार्य। यह निश्चय परमआवश्यक ही सर्वोत्कृष्ट करने योग्य कार्य है, आवश्यक शब्द का अर्थ और न लेना किन्तु अवश के द्वारा किया जाने वाला जो कार्य है उसको आवश्यक कहते हैं। अवश नाम है उसका जो किसी भी परपदार्थ के अधीन नहीं रहता है, केवल अपने शुद्ध आत्मतत्व को निरखकर प्रसन्न रहा करता है, स्वतंत्र है, ऐसे अवश अर्थात् ज्ञानी महापुरूष के द्वारा जो काम किया जाता है उसका नाम आवश्यक है। ये समस्त पुराणपुरूष इस निश्चय परमआवश्यक के प्रसाद से केवली हुए हैं, कैवल्य में ही आत्मा का चरम विकास है।

**कर्ममलविध्वंस का कार्य**—समस्त हमारे पुराणपुरुषों ने इस निज आत्मतत्त्व की आराधना से ही इन कर्मराक्षसों का समूह नष्ट किया और ये जिन हुए अर्थात् समस्त इन्द्रियविषयों को,रागद्वेषों को मूल से नष्ट करने वाले हुए, यही शिव हुए, कल्याणमय हुए अर्थात् ऐश्वर्य से सम्पन्न हुए, ईश्वर हुए,जिसने अपने आपके चरम विकास की सृष्टि की, ब्रह्मा हुए। अब ये सदाकाल अपने इस शुद्ध आत्मा में ही रमण करने वाले बने, इनका ज्ञान समस्त लोकअलोक में एकदम फैल गया, विष्णु हो गए। इनका ज्ञान समस्त सत् पदार्थों को एक साथ स्पष्ट जानने वाला हुआ है सो बुद्ध हो गए, इन्होंने समस्त रागादिक भावों को हरा दिया है, नष्ट किया है, समस्त पापभाव इनके नष्ट हो चुके हैं सो ये हरि बने और शरीरादिक समस्त बाह्यमलों को दूर कर दिया है, केवल शुद्ध ज्ञानप्रकाश है यों हर हुए। इस प्रकार अनेक नामों से जिनकी आराधना की जा सकती है ऐसे शुद्ध उत्कृष्ट परमविकास को प्राप्त हुए हैं, ऐसे पुराणपुरुषों की जो पुरुष नि:स्पृह होकर अनन्यमन से केवल उनके गुणों की महिमा को जानकर उनके गुणानुराग से उनको नमन करते हैं वे समस्त पापों को ध्वस्त कर डालते हैं। हमारे पाप मोही पुरुषों की सेवा से न कटेंगे। पाप कटने का उपाय निर्मोह,ज्ञानी,विरक्त साधुसंतों की उपासना है और वीतराग सर्वज्ञदेव प्रभु के स्वरूप की उपासना है तथा परमार्थत: अन्तस्तत्त्व की उपासना है।

**परमगुरु की उपासना का प्रसाद**—जो पुरुष इस परमपुरुषार्थ के प्रसाद से ऐसे उत्कृष्ट वीतराग हुए हैं उनके चरणों में सभी विवेकियों का समूह अपना सिर झुकाता है। हे कल्याणार्थी आत्मन् ! अब तू एक ही यह निर्णय कर ले, ये समस्त वैभव, ये कनककामिनी, ये परिजनमित्र समूह, इज्जत,प्रतिष्ठा ये सब भिन्न चीजें

हैं। इनमें जरा भी फंसे तो फंसते चले जावोगे। उलझना तो सरल है, सुलझना कठिन है, ऐसे समस्त परपदार्थों के मोह को त्यागकर एक अद्वितीय,आत्मीय,स्वाधीन,सहज आनन्द की प्राप्ति के लिए किसी परमगुरु की शरण में जा, उस सत्संग में रहकर अपने धर्म की दृष्टि बना, धर्म का आलम्बन करके निज परमात्मतत्त्व में तू उपयोग बनाकर तृप्त रहा कर। यह परमात्मतत्त्व नित्य ज्ञानानन्द से परिपूर्ण है,इसमें तू शीघ्र प्रवेश कर। अब किसी भी बाह्य पदार्थ में तू मत रह, उपयोग को उनमें मत बसा। केवल अपने इस शुद्ध चिदानन्दस्वरूप परमात्मतत्त्व को ही परमपिता, परमशरण समझकर इनके ही आश्रय में रह। तेरे लिए केवल तू ही गुरु है। वस्तुत: तेरे लिए तू ही आलम्बन है, तेरा सहाय मात्र तू ही है।

**विशुद्ध ज्ञानाराधना के कर्तव्य का अनुरोध**—हे हितार्थी ! एक शुद्ध ज्ञान को प्रकट कर। सबसे भिन्न ज्ञानानन्दघन अपने आत्मतत्त्व को देख, वहाँ कोई भी क्लेश नहीं रहता है, क्लेश तो तब होता है जब हम अपने इस ज्ञानानन्दघन स्वरूप से उठकर बाहर को मुड़कर देखते हैं। जहाँ बाहर में कुछ भी आकर्षण होता है, वहाँ ही इसे कष्ट हुआ करता है। तेरे में कष्ट के विनाश करने वाली प्रज्ञारूपी औषधि पड़ी हुई है, उस ज्ञानानुभूति को पाकर संसार के समस्त संकटों का विनाश कर लें, अपनी ऐसी दृष्टि बनायें कि मेरे करने योग्य काम तो वास्तव में आत्महित का ही है। इस बाहरी समागमों में मेरा कुछ हित नहीं है, ऐसी दृष्टि बनाकर धर्मपालन में ही अपने उपयोग को लगाओ। इस प्रकार यह निश्चय परमआवश्यक अधिकार में इस ग्रन्थ में दसवां भाग समाप्त हुआ।

## ।।नियमसार प्रवचन दसवां भाग समाप्त।।